

एक औरत की नोटबुक

(कथा विमर्श)

एक औरत की नोटबुक

सुधा अरोड़ा



मानव प्रकाशन
कोलकाता

प्रकाशक/लेखक की अनुमति के बिना इस पुस्तक को या इसके किसी अंश को संक्षिप्त,
परिवर्धित कर प्रकाशित करना या फिल्म /वृत्तचित्र बनाना कानूनन अपराध है।

ISBN : 978-93-80332-07-9

© सुधा अरोड़ा

पहला संस्करण : 2010

प्रकाशक

मानव प्रकाशन

131, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-700073

फोन नं. : (033) 22684822,09831581479

ई-मेल- prakashanmanav@yahoo.co.in

मुद्रक

क्विक ऑफसेट, दिल्ली-110 094

उन सब के नाम

जिनकी नोटबुक में

इसे पढ़ने के बाद

कुछ नया जुड़ेगा!

जिंदगी के गलियारों से गुज़रते हुए

आभार

शालिनी माथुर और सुजाता पारमिता का
जिन्होंने इस किताब को तैयार करने के लिए प्रेरित किया

13 नवम्बर 2009- दिल्ली के विज्ञान भवन में महिलाओं पर घरेलू हिंसा प्रतिरोधक अधिनियम को लागू करने पर तृतीय राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया जहां पूरे भारत से हर राज्य की सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया जिसमें मुख्य अतिथि राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा पाटिल थीं। देश की कई जानी मानी राजनेताओं और राष्ट्रीय महिला आयोग की उच्च पदाधिकारियों ने अपने वक्तव्य दिए। जब वीडियो कैमरे दर्शक और श्रोता दीर्घा की ओर घूमे और माइक पर सामाजिक कार्यकर्ताएं आई तो घरेलू हिंसा से सुरक्षा के कानून के तहत बात करते-करते वे अपने निजी जीवन की समस्याओं के बारे में बोलने लगीं। जाहिर है, वह मंच न तो सलाहकारों का केंद्र था, न पुलिसकर्मियों का थाना और न न्यायालय का कठघरा, इसलिए उन कार्यकर्ताओं को बीच में टोका गया कि यहां अपनी निजी समस्याओं का बयान न करें।

लगभग दो हजार महिलाओं से विज्ञान भवन का सभागार पूरी तरह अंटा पड़ा था। यह सच है कि महिला सामाजिक कार्यकर्ता, जो दूसरी महिलाओं के लिए सहायता मुहैया करवाती हैं, अपने-अपने घरों में खुद भी शारीरिक हिंसा या मानसिक

यातना का शिकार होती हैं और एक डेस्पेरेशन में अपने मुद्दे को या अपनी बात को पुष्ट करने के लिए अपने निजी अनुभवों को सार्वजनिक करने लग जाती हैं।

कुछ मुट्ठी भर महिलाओं को समाज में अपना एक प्रतिष्ठित मुकाम हासिल करते हुए हम देखते हैं और यह धारणा बना लेते हैं कि महिलाएं अब दायम दर्जे से बाहर निकल आई हैं और हर जगह अपनी आवाज बुलंद कर रही हैं। सच तो यह है कि यह मुकाम एक या दो प्रतिशत महिलाओं ने ही हासिल किया है। समाज में महिलाओं का एक बड़ा तबका आज भी समस्याओं से जूझ रहा है। जो दो प्रतिशत महिलाएं बदलाव लाना चाहती हैं, वे राजनीति में हों, न्यायालय में या पुलिस में, उनकी राह में भी लगातार बाधाएं खड़ी की जाती हैं। उन्हें आज भी प्रभुताशाली वर्ग गंभीरता से नहीं लेता और भरसक नजरअंदाज करने या उनका नोटिस न लेने की कोशिश करता है।

घरेलू हिंसा से सुरक्षा कानून को पारित करवाने में ही सुप्रीम कोर्ट की श्रीमती इंदिरा जयसिंह और उनके साथ सामाजिक कार्यकर्ताओं की पूरी टीम को दस साल की मशक्कत करनी पड़ी। 1995 में घरेलू हिंसा प्रतिरोधक कानून का पहला ड्राफ्ट बना, 1998 में दूसरा पर अक्टूबर 2006 में ही इसे लागू किया जा सका। इस कानून के अंतर्गत महिलाओं के हित को ध्यान में रखते हुए क्या प्रावधान है, उसकी जानकारी पीड़ित महिलाओं के एक बड़े वर्ग को नहीं है। जब तक अपने अधिकारों की जानकारी या उसके प्रति जागरूकता ही नहीं होगी, उस कानून से मिली राहत को अमल में कैसे लाया जा सकेगा?

13 नवम्बर 2009- के तृतीय राष्ट्रीय अधिवेशन में घरेलू हिंसा प्रतिरोधक अधिनियम के परीक्षण और सर्वेक्षण की रिपोर्ट को महंगे और चिकने कागज पर बड़े साइज में अंग्रेजी में प्रकाशित किया गया और वहां सम्मिलित होने वाले सभी प्रतिभागियों में दो सौ चौदह पृष्ठों की इस भव्य किताब को वितरित किया गया जबकि वहां अस्सी प्रतिशत प्रतिभागी महिलाएं हिन्दी या प्रादेशिक भाषा जानने वालों में से थीं।

अक्सर महिलाओं के समूह में हमारा सामना इस समस्या से हुआ है कि आम पढ़ी-लिखी औरत को जागरूक बनाने के लिए अंग्रेजी में तो किताबें उपलब्ध हैं पर जो महिलाएं अंग्रेजी नहीं पढ़ सकतीं और जो हिन्दी में जानकारी चाहती हैं, उनके

लिए किताबें कहाँ हैं? पाठिकाओं में एक वर्ग कॉलेज की छात्राओं का है जिनके लिए आज 'वीमेन्स स्टडीज' और हिन्दी में 'स्त्री विमर्श' के नाम पर थोक में किताबें उपलब्ध हैं। इन छात्राओं से अलग एक बहुत बड़ा वर्ग भुक्तभोगी महिलाओं का या ऐसी सामाजिक कार्यकर्ताओं का है, जिन्होंने इस वर्ग को बहुत नजदीक से देखा है।

हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श के साथ दिक्कत यह है कि यह विमर्श विमर्शवादियों के लायक बनकर ही रह गया है। बोझिल वाग्विलास और अव्यावहारिक सैद्धांतिक नज़रिया— पहले से पढ़े लिखों को कुछ और साक्षर बनाने का उपक्रम बनकर रह जाता है। जो औरतें पहले से सशक्त हैं, उन्हें सशक्तीकरण की क्या सीख दी जा सकती है? इस सीख की जरूरत तो उस वर्ग को है, जिन तक न कानून की जानकारी पहुंचती है, न उनकी अपनी भाषा में प्रस्तुत की गई सामग्री जिससे वे अपनी समस्याओं से लड़ने का और उनके बीच से रास्ता निकालने का तरीका ढूंढ सकें।

साहित्य की अनेक विधाओं में से एक प्रमुख विधा है— कहानी। अपने छोटे आकार के कारण यह अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय विधा है। कोई लेखक क्यों कहानी विधा को चुनता है, इसके अलग-अलग कारण हो सकते हैं। मेरे लिए कहानी लिखने का अर्थ जीवन में आए किसी विशिष्ट पात्र या किसी हैरतगंज घटना का बयान करना नहीं है। यों तो रोज़ ही हमारे इर्द-गिर्द और हमारे घर से बाहर भी इतना कुछ घटित होता है कि हर रोज़ कुछेक कहानियां बन सकती हैं। पर कोई भी घटना या पात्र तब तक कहानी का विषय नहीं बनता जब तक वह समाज की किसी बड़ी विसंगति या किसी बड़े सरोकार का प्रतिनिधित्व नहीं करता। कहानी लिखते समय वास्तविक चरित्र तो दिमाग से ओझल हो जाते हैं, बस, वह केन्द्रीय भाव बचा रह जाता है जिसने दिमाग में खलल पैदा कर दिया था और जिसके इर्द-गिर्द नये सिरे से पात्र रचे जाते हैं। कई बार जीवन में देखे गए दो तीन किरदार कहानी के एक ही पात्र में सिमट जाते हैं और कभी-कभी जीवन में देखा सुना एक पात्र दो तीन अलग-अलग कहानियों में अलग-अलग भूमिकाएं निभाता दिखाई देता है।

क्या कहानियां सिर्फ दोपहर की फुरसत में महिलाओं को अच्छी नींद सुलाने के लिए लिखी जानी चाहिए? क्या हर कहानी का पहला उद्देश्य मात्र मनोरंजन होना चाहिए? नहीं। बेशक हम कहानियों से कोई बड़ा सामाजिक आंदोलन खड़ा नहीं कर सकते पर जीवन को बेहतर बनाने में, सामाजिक कुरीतियों को अपदस्थ करने में, व्यक्ति को उसके इर्द-गिर्द फैली विसंगतियों के प्रति जागरूक और चौकस करने में

हर प्रकार के रचनाकर्म की एक निश्चित सकारात्मक भूमिका होती है। कहानी विधा भी वही भूमिका निभाती है। आम तौर पर गृहिणियाँ अपनी रोजमर्रा की जिम्मेदारियों — बच्चों की देखभाल, घर खर्च की व्यवस्था और रसोई की रूटीन से हटकर जैसे अपना दुपहर का खाली वक्त सिलाई-कढ़ाई या क्रोशिए के मेजपोश बुनने या घर की बची खुची कतरनों से कांथा या गोदड़ी बनाने में लगाती हैं, वैसे ही कुछ पढ़ी-लिखी औरतें दुपहर का वक्त 'गृहशोभा' या 'मेरी सहेली' जैसी पत्रिकाओं की कहानियाँ पढ़ने में बिताती हैं। उनके लिए कहानी पढ़ने का मकसद यही है कि कहानी पढ़ते-पढ़ते उन्हें अच्छी-सी नींद आ जाए और वे एकरस रूटीन से कुछ निजात पा सकें। मैं दुपहर की फुर्सत में नींद दिलाने के लिए कहानियाँ नहीं लिखती। कहानी पढ़कर आती हुई नींद भाग जाए और पढ़ने वाले के दिमाग में थोड़ा-सा खलल पैदा करे, कुछ सोचने पर मजबूर करे, घर के पिछवाड़े फेंक दी गई या जानबूझकर आंखों से ओझल कर दी गई कुछ अनचाही स्थितियों को सामने ला खड़ा करे, तभी कहानी लिखने का मकसद पूरा होता हुआ दिखाई देता है।

पच्चीस साल पहले 1984 में जब मैंने कलकत्ता दूरदर्शन के लिए हिन्दी साहित्य की प्रख्यात रचनाकार मन्नू भंडारी का साक्षात्कार लिया था तो उनसे एक सवाल पूछा था— “क्या कारण है कि आपकी नायिकाएं त्रासदी से गुजरती हैं तो भी समझौता करती दिखाई देती हैं या अपने जीवन की विसंगतियों को पहचान तो लेती हैं पर विद्रोह नहीं करती।” तो उन्होंने फौरन उत्तर दिया था— “यह बताओ, हमारे भारतीय समाज में कितनी औरतें हैं जो विद्रोह का झंडा हाथ में लेकर बगावत पर उतर आती हैं? जब जीवन में यह नहीं होता तो कहानी में हम ऐसा होते हुए कैसे दिखा सकते हैं।” आज मन्नू जी के उस जवाब को याद करते हुए डॉ. अंबेडकर का वक्तव्य याद आता है कि शोषित को शोषण की पहचान करवाना जरूरी है, विद्रोह करना तो वह अपने आप सीख जाएगा। मध्यवर्गीय भारतीय औरत की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि उसे अपने अस्तित्व को कुचलने वाली स्थितियों की, अलग-अलग स्तरों पर अपने शोषण की पहचान ही नहीं होती। अगर शोषण की— विशेषकर मानसिक तनाव और यातना की पहचान ही न हो तो उसकी सारी ऊर्जा विपरीत स्थितियों के साथ तालमेल बिठाने में ही खर्च हो जाती है। बगावत करना तो बहुत दूर की बात है, स्थितियों को पहचाने बगैर वह उससे बाहर निकलने की कोशिश तक नहीं करती।

वास्तविकता यह है कि डरी सहमी, रोती कल्पती, पैरों पर गिरी, गिड़गिड़ाती

और मिन्नतें करती औरत कभी हिंसक पुरुष को नहीं बदल सकती बल्कि वह उसे और त्रासजन्य आनंद पाने के लिए उकसाती है। अहंकारी और सामंती पुरुष को हराने का और बदलने का यही एक रास्ता है कि रोना धोना बंद कर औरत उसके हर औजार को निरस्त कर दे। जो कभी पांवों पर गिरी रहती थी, जिस दिन उठकर अपने पांव पर खड़े होना सीख जाती है और जिस दिन आर्थिक और भावनात्मक आश्रय से निकलकर अपने लिए एक स्पेस बना लेती है और अपने पति को सैडिस्ट होने का आनंद देना बंद कर देती है, पुरुष का मकसद डिफ्यूज हो जाता है।

आकार में इन बिल्कुल छोटी-छोटी कहानियों को अर्द्धशिक्षित महिलाओं के बीच बैठकर पढ़ने के बाद की गई चर्चा के दौरान इस संकलन को तैयार करने का विचार आया कि कहानियाँ बेशक छोटी हैं पर वे महिलाओं की किसी न किसी समस्या की ओर उंगली उठाकर इंगित करती हैं। उस समस्या पर विचार करने को मजबूर भी करती हैं और उनका हल ढूंढने को प्रेरित भी। विचार में कहानी गुंथी है और कहानी में विचार। किसी खास विचार को प्रतिपादित करने के लिए बेशक कहानी नहीं लिखी जाती पर कोई भी कहानी सिर्फ कागज काले करने के लिए या दिमागी अय्याशी करने के लिए कलम से बाहर नहीं आती।

यह भी सच है कि कहानी- लेखक की अपनी सीमाएं हैं। कथा साहित्य में आप कहानी के कथ्य से अलग जाकर स्त्री सशक्तीकरण का संदेश नहीं दे सकते। कहानी में हम 'जैसा है' या 'जैसा होता रहा है' की स्थितियाँ ही अधिक दिखाते हैं, जबकि आलेखों में, टिप्पणियों में या छोटे-छोटे एक पृष्ठीय स्तंभों में हम स्त्रियों को 'जैसा होना चाहिए' की प्रेरणा, हौसला या नारा भी दे सकते हैं। जो काम कहानी के द्वारा नहीं किया जा सकता, वह आलेखों, टिप्पणियों, वक्तव्यों से किया जा सकता है। यह किताब इन दो विधाओं को मिलाकर की गई कोशिश का परिणाम है। मैं इसमें कितना सफल हो पाई हूं, यह तो वे पाठिकाएं ही तय करेंगी जिनके लिए यह किताब लिखी गयी है। अगर उन्हें इस किताब के माध्यम से अपने को पहचानने में थोड़ी-सी भी मदद मिलती है तो मैं अपनी मेहनत को सार्थक समझूंगी।

आभार अनुज कुमार का भी, जिन्होंने इस किताब को पूरा करके देने का दबाव मुझपर लगातार बनाए रखा वर्ना कई किताबों की योजनाएं दिमाग के भीतर जंग खाती बरसों तक पड़ी रह जाती हैं।

16 दिसम्बर, 2009

अनुक्रम

भूमिका

ज़िन्दगी के गलियारों से गुजरते हुए.... 7

खंड : एक

आलेख

आक्रामकता के खिलाफ : एक आम औरत की आवाज 17

कहानी और वक्तव्य

अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी 31

आर्थिक आत्मनिर्भरता घरेलू हिंसा से निबटने
की पहली शर्त है 37

ताराबाई चॉल : कमरा नंबर एक सौ पैंतीस 42

सहनशील धरित्री का आत्मपीड़क आनंद 46

तीसरी बेटी के नाम : ये ठंडे, सूखे, बेजान शब्द 49

एक माँ का आशीर्वचन : तुझे तो फिर बनना है औरत 53

बड़ी हत्या, छोटी हत्या 56

कन्या भ्रूण हत्या के कारण कहां छिपे हैं? 58

खंड : दो

आलेख

जिसके निशान नहीं दिखते : मानसिक प्रताड़ना के खिलाफ 63

कहानी और वक्तव्य

रहोगी तुम वही 95

यह सूक्ष्म प्रताड़ना की ही कहानी है 100

सत्ता संवाद	104
अर्थसत्ता के कंधों पर चढ़कर ही चुप्पी टूटती है	109
डेजर्ट फोबिया	111
खोये हुए अस्तित्व से अचानक मुठभेड़	116
करवाचौथी औरत	118
पालतू कुत्ते के वर्चस्व के साये में	122
एक औरत : तीन बटा चार	126
अपने लिए कब जीना सीखेगी औरत?	131
डर	133
अपने घर में सम्मान के साथ जीने का अधिकार	135
साक्षात्कार	
सुधा अरोड़ा से उर्मिला शिरीष का साक्षात्कार	141

खंड : एक

घरेलू हिंसा के खिलाफ

आक्रामकता के खिलाफ : एक आम औरत की आवाज

क्या आपके पति आपको पीटते हैं?’ काउंसिलिंग के लिए आए एक सज्जन ने मुझसे सीधा सवाल किया।

‘जी नहीं।’ मैंने बड़े धीरज के साथ कहा। काउंसिलिंग की हमारी आचार-सांहिता का एक पहला नियम है— सामनेवाले की बात को, बगैर आपा खोए, ध्यान के साथ सुनना।

‘क्या उन्होंने आप पर कभी हाथ नहीं उठाया?’ वह फिर धृष्टता जाहिर करते बोले।

‘कभी नहीं।’ मैंने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा, गोया किसी पुरुष का अपनी पत्नी को न पीटना ही अच्छे, सुसंस्कृत, सभ्य पति के खाने में उसका नाम दर्ज कराने के लिए काफी है।

‘तब तो वह बड़े आदर्श पति हैं।’ उन्होंने कुछ प्रभावित होने के अंदाज में मुस्कराकर कहा, पर उनकी मुस्कुराहट में व्यंग्य था। और यह व्यंग्य उनके अगले वाक्य में कुछ ज्यादा ही मुखर था—‘इसका अर्थ है कि वह आपको सच्चा प्यार नहीं करते।’ पति की डिक्शनरी में सच्चे प्यार की परिभाषा की तमाम विशेषताओं की

साक्षात् प्रतिमूर्ति बने वह मेरे सामने थे।

इसके बाद यह समझ पाने में कहीं कोई दिक्कत नहीं थी कि अपनी सहमी-सकुचाई पत्नी पर जब-तब लगभग कसाईनुमा हिंसा और निर्मम होकर हाथ-पांव उठाने के बावजूद वह अपने-आपको, अपनी पत्नी को बेहद चाहने-समझने वाले पति के रूप में, प्रोजेक्ट कर पूरी तरह अपने आचरण से संतुष्ट और आश्वस्त थे।

“क्या एक मां....जो अपने बच्चे को अपनी जान से ज्यादा प्यार करती है, उस पर कभी हाथ नहीं उठाती? या उसके किसी गलत काम पर चांटा नहीं जड़ देती? अगर आप एक मां के इस आचरण को जस्टीफाई कर सकती हैं तो पति के हाथ उठाने पर आपत्ति क्यों?” यह उन सज्जन की अगली दलील थी।

इस तरह की बीमार मानसिकता के यह अकेले पुरुष हैं, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः वे ऐसे पुरुषों की पूरी एक जमात का प्रतिनिधित्व करते हैं जो आज भी यह समझते हैं कि औरत की जगह का खांचा उसके पति के चरणों के इर्द-गिर्द ही कहीं आंक दिया गया है।

उन्हें यह समझाना काफी मुश्किल था कि एक मां का भी, बच्चे पर हाथ उठाना या तड़ाक से उसके गाल पर थप्पड़ लगा देना, किसी भी दृष्टि से न तो न्यायोचित है, न मानवीय। यह भी एक समर्थ, शारीरिक रूप से ताकतवर व्यक्ति की कमजोर और निरीह व्यक्ति को दी गई यातना का ही एक रूप है, जो किसी भी तरह क्षम्य नहीं है। जिस दिन वह बच्चा बड़ा होगा और शारीरिक रूप से प्रतिकार के काबिल होगा, वह बिसूरते हुए अपना गाल सहलाने की बजाय मां के उठे हुए हाथ को न सिर्फ पीछे धकेल देगा, बल्कि प्रकारांतर से बचपन में मिले सारे तमाचों को मूल और ब्याज सहित लौटा देगा। उस वक्त वह यह कभी नहीं सोचेगा कि मेरी मां ने किसी और की दी हुई प्रताड़ना या जिल्लत का गुस्सा मेरे कमजोर शरीर या नाजुक गालों पर बेवजह या किसी नामालूम-सी गलती के तहत उतारा था।

मां का बेटे पर या पति का पत्नी पर हाथ उठाना शारीरिक दृष्टि से बलशाली पुरुष द्वारा एक कम शक्तिशाली अस्तित्व का दमन है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि सभी पुरुष अपनी पत्नियों पर अत्याचार करते हैं। किसी भी स्थिति का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता, पर यहां हमारा अभिप्रेत पुरुष-वर्चस्व या शॉविनिज्म के मूल कारणों की पड़ताल करना है।

भारतीय पति द्वारा पत्नियों को दी गई प्रताड़ना के बारे में आमतौर पर दो मिथ प्रचलित हैं— पहला यह कि ज्यादातर निम्नवर्ग के कामकाजी मजदूर वर्ग के पति

ही गरीबी की मार और बड़े परिवार का बोझ उठाने में असमर्थ होने के कारण अपनी पत्नियों के साथ शारीरिक हिंसा या मार-पीट पर उतर आते हैं।

दूसरा मिथ यह है कि सामान्यतः भारतीय पति/पुरुष अपने होशोहवास में क्रूरता या हिंसा का प्रदर्शन नहीं करता, बल्कि वह किसी न किसी नशे-शराब का हो, ड्रग्स का या अफीम का—के कारण ही न चाहते हुए भी अपना आपा खो बैठता है। (यह अलग बात है कि हिंसक पति को आखिरकार पत्नी को पीटने की भी लत पड़ जाती है जो पान, तंबाकू, सिगरेट या शराब की लत की तरह ही आसानी से छूटने में नहीं आती।)

इस तरह की धारणाएं हमारे पुरुष-प्रधान समाज में पुरुषों द्वारा ही स्थापित की गई हैं या फिर ऐसी पतिपरायण स्त्रियों द्वारा, जिन्हें जन्म से ही अपने घर-परिवार के दकियानूसी संस्कारों में सहनशीलता का घोल जन्मघुट्टी में ही घोलकर पिला दिया जाता है।

भारत के सिर्फ एक महानगर— बंबई के नारी-संस्थानों या महिला-संगठनों के कार्यालयों के आंकड़ों को ध्यान में रखते हुए शोध किया जाए तो यह आश्चर्यजनक तथ्य सामने आता है कि बहुत से सुप्रतिष्ठित, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्यातिप्राप्त, अपनी अभिजात्य, शालीन छवि लिए हुए संभ्रांत, नामी-गिरामी पुरुष भी किसी न किसी कमजोर क्षण में (जिसे वे अपनी मजबूरी ही कहेंगे) अपनी पत्नियों को पीटते हैं। वे चाहे जनता के चहेते, स्वनामधन्य राजनीतिज्ञ हों, महान संगीतकार, गीतकार, फिल्म-निर्माता, निर्देशक, गायक, अभिनेता हों या प्रबुद्ध वर्ग के लेखक, कवि गीतकार, कला-समीक्षक, रंगकर्मी या मल्टीनेशनल कंपनियों के उच्चाधिकारी हों— इनकी फेहरिस्त बहुत लंबी है और इनके यदि नाम गिनाए जाएं तो एक आम पाठक के सामने उसके तथाकथित ‘गॉडफादरों’ की इमेज भरभराकर ढह जाएगी। जनता या समाज की अदालत से अलग ये संभ्रांत व्यक्ति अपने घर की चारदीवारी में सिर्फ पुरुष होते हैं और उन आम पुरुषों से कतई अलग नहीं होते जो यह समझते हैं कि पत्नी एक बिना हाड़-मांस, बिना दिल-दिमाग के एक ऐसा बेजान पुतला है, जिसे इच्छानुसार परिचालित करने के लिए उस पुतले की चाभी खुदा ने उनके हाथ में सौंप दी है। इस्तेमाल करने के तरीके और चाभी को घुमाने के अंदाज में फर्क हो सकता है, पर इसमें संदेह नहीं कि नामी-गिरामी पुरुषों की पत्नियां, उम्र के किसी न किसी मोड़ पर जाकर, अपने इन सुप्रतिष्ठित पतियों से ‘डिसइल्यूजंड’ होती हैं। इंदिरा गांधी से लेकर प्रिंसेज डायना तक, फ्लेविया एग्नेस से लेकर शहनाज शेख तक,

मीना कुमारी से लेकर डिंपल कपाडिया तक— सभी औरतें एक आम पति की हिंसक मारपीट से लेकर अपने नामी, प्रभामंडल-युक्त पति की सूक्ष्म प्रताड़ना या अवहेलना का इतिहास अपने भीतर समेटे हैं।

आमतौर पर संभ्रात पति इस बारे में किसी शुभचिंतक या मित्र द्वारा इस विषय को उठाया जाना कतई पसंद नहीं करते। उनके अनुसार, यह उनका नितांत निजी मामला है और इस मामले में किसी भी अन्य का हस्तक्षेप उन्हें बर्दाश्त नहीं होता। जाहिर है कि किसी दूसरे की जिरह या छानबीन से उन पति महोदय के बेनकाब होने का पूरा अंदेशा है। कई बार दांपत्य संबंधों की हिंसा की तह में बेहद मामूली-से कारण पाए गए हैं— खाने में नमक कम या ज्यादा होना, बच्चे की स्कूली रिपोर्ट खराब होना, पत्नी का वक्त पर सामने उपस्थित न होना, पत्नी की साड़ी में सलवटों का होना या पत्नी का सजा-संवरा होना पत्नी का गलत वक्त पर गलत तरीके से पेश आना— यानी कुल जमा बात यह है कि अगर पति किसी भी कारण से अपनी पत्नी पर हाथ उठाना ही चाहता है तो पत्नी के छींकने से लेकर उसके हिलने-डुलने तक एक हजार कारण पति की जायज नाराजगी के लिए पैदा किए जा सकते हैं।

निम्न-मध्यवर्ग में हिंसा का एक प्रमुख कारण दहेज होता है। एक औसत मध्यवर्गीय लड़का शादी के बाजार में अपने-आपको सबसे महंगी बिकाऊ चीज समझता है और इसकी पूरी कीमत न मिलने पर पत्नी को प्रताड़ित करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है।

इस पर न कोई सवाल उठाया जा सकता है, न बीच-बचाव किया जा सकता है, क्योंकि पड़ोसी से लेकर पुलिस थाने तक— सबका पिटती हुई औरत की सहायता के लिए उठ खड़े न होने का एक ही शाश्वत कारण है कि यह पति-पत्नी का 'निजी मामला' है।

इस संदर्भ में गांधीजी की चिरंतन उक्ति का याद आना स्वाभाविक है कि अन्याय करने वाले से अन्याय सहने वाला अगर ज्यादा नहीं तो कम से कम बराबर का दोषी है। लेकिन दांपत्य जीवन की हिंसा के संदर्भ में हम अन्याय सहने वाले को इतनी आसानी से दोषी करार नहीं दे सकते, क्योंकि इसके पीछे एक लंबी सामाजिक पृष्ठभूमि और संस्कारगत विरासत है जिसकी परत-दर-परत से निजात पाने के लिए औरत को न जाने और कितने दशक लगेंगे।

पहली बात तो यह है कि अन्याय सहने वाला पक्ष यानी कि औरत इस मायने

में तो दोषी है ही कि इसे 'निजी' दुःख या नियति या तकदीर मानने में ज्यादातर औरत का ही हाथ होता है। बेशक इसके लिए उसके संस्कार और संस्कारगत झिझक जिम्मेदार है, जिसके तहत वह सोचती है कि शादी के बाद उसके पति का घर उसका अपना घर है और इस घर की सामाजिक मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा का सारा दारोमदार उसके कंधों पर है। अगर उसका पति उसे वजह-बेवजह पीटता है तो इस बात को अपनी चारदीवारी से बाहर निकालने में स्त्री को सबसे पहले अपनी ही प्रतिष्ठा पर आंच आती महसूस होती है।

आज भी प्रताड़ित महिलाओं की सहायता के लिए बनाए गए संगठनों में अधिकतर निम्न-मध्यवर्ग या मध्यवर्ग की अधेड़ महिलाएं ही अधिक होती हैं। इनकी उम्र चालीस-पचास के बीच की होती है। ऐसी महिलाओं का एक औसत वार्तालाप इस तरह का होता है—

'कब से आपके पति इस तरह का व्यवहार करते हैं?'

'जब से शादी हुई।'

'आपने कभी किसी से शिकायत की?'

'नहीं। कभी नहीं।'

'क्यों?'

'सोचती थी—घर की बात बाहर क्यों निकालूं। और लगता था, कभी तो ये सुधर जाएंगे।'

'आपके पति इससे सुधरे?'

'नहीं, हर बार मैं कोशिश करती थी कि जिस कारण ये गुस्सा होते हैं, उस कारण को दूर करूं, लेकिन फिर कोई दूसरा कारण पैदा हो जाता था।'

'आपके पड़ोसियों को मालूम है?'

'जी हां।'

'उन्होंने कभी बीच-बचाव किया?'

'शुरू में वे पूछते थे, पर मैं ही छिपा जाती थी। कभी कहती—नल से चोट लग गई; कभी कहती—बाथरूम में पांव फिसल गया।'

'झूठ क्यों बोलती थीं आप?'

'सोचती थी—मेरे पति की इज्जत जाएगी तो माथा तो मेरा ही नीचा होगा। बात बाहर निकेलगी तो बच्चों को भी ताने सुनने पड़ेंगे। उनके घर में आते ही हम सब सहमकर बैठ जाते थे।'

‘इतने सालों बाद अब आपने किसी की मदद लेने की जरूरत क्यों महसूस की?’

‘इसलिए कि अब मेरे शरीर में वह ताकत नहीं रही। मैंने सारी उम्र सहा, पर अब सहा नहीं जाता।’

यह शिकायत होना स्वाभाविक है कि ये प्रताड़ित पत्नियां पिटती रहकर शहीद क्यों होती हैं? क्यों उस दिन का इंतजार करती हैं जब उनकी सहनशीलता जवाब दे जाए। जब उनकी हड्डियों में और पिटने का दम-खम न रहे, जब उनके जीने और मरने में कोई अंतर न रह जाए।

हमारे संस्थान में एक पैंसठ वर्ष की महिला असफल वैवाहिक जीवन के चालीस साल बिताने के बाद अलग होने का निर्णय लेकर आई। बहुत स्वस्थ भी वह नहीं थीं।

‘इस उम्र में अलग होकर क्या हासिल होगा?’

‘मुझे नहीं लगता कि अब मैं एक-डेढ़ साल से ज्यादा जिंदा रहूंगी। सारी जिंदगी तो मैंने-रो-धोकर काट दी। हर समय लगता था, सिर पर एक तलवार लटक रही है। अब जिंदगी के बच्चे-खुचे जो भी दो-चार छह महीने हैं, अपनी तरह से आजाद होकर जी लूं। बचपन से ही मैंने आजादी का सुख नहीं भोगा। पहले मां-बाप, फिर पति, फिर बच्चे....सभी रोब जताते रहे। अब बच्चे विदेश सेटल हो गए तो पति ने फिर लगाम थाम ली। जिस तरह कैंसर की लास्ट स्टेज वाले ‘टर्मिनली इल’ पेशेंट को ‘शांति-अवेदना’ में चंद घंटों या दिनों या महीनों की खुशी के लिए लाया जाता है। बस, वैसे ही मैं अपने मरने से पहले की आजादी को भोगना चाहती हूँ।’

इस तरह का ‘जीवन के अंतिम चरण का विद्रोह’ या ‘जिजीविषा’ देखकर स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अपनी जिंदगी के सबसे महत्त्वपूर्ण युवा दिन घरेलू जद्दोजहद में होम करते वक्त क्या महिलाओं को अपने स्वतंत्र इकाई होने का अहसास कतई परेशान नहीं करता? क्यों विवाह के बाद जवानी का पूरा समय वह एक आदर्श पत्नी और एक ममतामयी मां बन पाने के संघर्ष में लगभग आंखें मूंदकर गंवा देती है? फिर भी हासिल कुछ नहीं होता। अपनी जिंदगी के वे सुनहरे बीस-पच्चीस साल अपने असफल वैवाहिक जीवन में खपा देने के बाद यह देखती है कि ‘इसमें बड़ी बात क्या है? यह तो उसका फर्ज था।’ यह रवैया न सिर्फ पति, बल्कि बच्चों की अकृतज्ञता में भी साफ झलकता है।

अपने बच्चों का भविष्य बनाने और बचाने की कोशिश में अधिकांश औरतें

अपनी एक पहचान (आइडेंटिटी) स्थापित करने के सारे दरवाजे बंद कर चुकी होती हैं। जब तक शारीरिक हिंसा की शिकार औरत चेतती है, वह उम्र के उस पड़ाव पर पहुंच चुकी होती है, जहां वह नौकरी करने और आत्मनिर्भर होने के काबिल नहीं रहती।

आमतौर पर घर में रहने वाली पत्नी या गृहस्थी संभालने वाली घरेलू औरत ही कमाऊ पति की हिंसा का शिकार होती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि कामकाजी पत्नी को उसके पति उसकी कड़ी मेहनत की कमाई के एवज में सर-आंखों पर बिठाकर रखते हैं। बाहर अपने दफ्तर का वर्क-लोड उस पर जितना भी हो, घर पहुंचकर उसे वही रोल अदा करना पड़ेगा जो एक अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित घरेलू महिला करेगी। रसोई का पूरा कार्य-क्षेत्र पत्नी के जिम्मे है, पति अगर अपने हाथ से एक कप चाय बनाकर पी भी लेता है तो देर-सबेर उस चाय को लेकर अपने तरकश में से एकाध व्यंग्य-बाण छोड़े बिना वह नहीं रहेगा। यहां आपसी कलह का कारण घर या बच्चे नहीं होंगे, बल्कि आपसी कैरियर होगा। पत्नी अगर काम में तरक्की कर रही है तो उसे पति शक की नजर से देखता है, क्योंकि उसकी निगाह में पत्नी की तरक्की अपने बॉस को खुश करने की उसकी काबलियत पर टिकी होती है।

अधिकांश पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के पुरुष भी पढ़ी-लिखी, समझदार पत्नी तो चाहते हैं, पर साथ ही यह भी कि वह बाहर काम न करे। घर पर रहकर अपने बच्चों की पढ़ाई की पूरी जिम्मेदारी ले। पड़ोस के बच्चों की ट्यूशन कर ले या ज्यादा से ज्यादा स्कूल की अध्यापिका या कॉलेज की शिक्षिका बन जाए, ताकि घर से बाहर कम वक्त देना पड़े और घर सुचारु रूप से चल सके। मध्यवर्गीय पति आमतौर पर घर की जिम्मेदारी में शरीक होने से कन्नी काटता है।

कामकाजी दंपति की समस्याएं अधिक गहरी हैं। घर को सही रूप से चलाने में कितना योगदान पति का हो, कितना पत्नी का, इस पर मतभेद एक बड़ी समस्या में बदल सकता है। पति घर पहले पहुंच जाए और पत्नी तब तक न पहुंच पाए तो भी बवाल खड़ा होने की पूरी संभावना है। एक ही प्रोफेशन से जुड़े दंपति में तनाव का बढ़ते-बढ़ते शारीरिक हिंसा का रूप ले लेना और भी स्वाभाविक है।

अक्सर हिंसा के कारणों की खोज में पहला और मुख्य कारण यही देखा गया है कि पत्नी पर हाथ उठाना पुरुष के लिए अपनी कुंठा—चाहे वह किसी भी वजह से हो—

हीन भावना तथा नाराजगी के उबलते हुए लावे को बाहर निकालने का, एक सबसे आसान और सुविधाजनक 'आउटलेट' है। सुविधाजनक, क्योंकि वह जानता है, पत्नी प्रतिकार करेगी, पर पति की हिंसा का बखान नहीं करेगी। कई मामलों में देखा गया है कि रात की भीषण मार-पीट के बाद अगली सुबह पति निहायत बेचारा जीव बनकर पत्नी के पांव पकड़कर माफी मांग लेता है और शरीर पर वहशी पति के दिए हुए तमाम लाल-नीले निशान लेकर भी पत्नी फौरन पसीज जाती है और उसे माफ कर देती है— यह समझे बगैर कि वह अनजाने ही कितनी बड़ी साजिश और कभी न खत्म होने वाले रोमांचक खेल का शिकार होती जा रही है।

यह खेल बार-बार दोहराया जाता है। कभी-कभी तो यहां तक कि न सिर्फ पुरुष को इसमें 'सैडिस्टिक प्लेजर' मिलता है, बल्कि पत्नी भी इस हिंसा की अभ्यस्त हो जाती है। जब तक उसके अस्तित्व पर आंच न आए या उसके 'होने पर प्रश्नचिह्न न लगे, वह इसे बखूबी बर्दाश्त करने की आदत डाल लेती है। इसे सहने, अपने तक संहेजकर रखने और सहते चले जाने के कुछ ठोस कारण हैं—संस्कारगत मजबूरी इसका पहला कारण हो सकती है, पर उससे भी बड़ा कारण है, सामाजिक भय और आर्थिक निर्भरता से पैदा हुई असुरक्षा की भावना।

अक्सर मध्यवर्ग की औरतें यह दलील देती हैं—'हमें बर्दाश्त इसलिए करना पड़ता है क्योंकि उसके अलावा कोई चारा नहीं! अपना घर छोड़कर हम बाहर निकल जाएं तो हमारे मां-बाप, भाई-बहन ही सबसे पहले हमारे खिलाफ खड़े होंगे। मां अपना उदाहरण देकर इस बात की दुहाई देंगी कि उन्होंने खुद भी जिंदगी में यही सब सहा या नहीं! थोड़ा-बहुत तो सबको सहना पड़ता है।'

अपनी ही मां को बेटी का आवाज उठाना गलत लगता है। सभी चाहते हैं कि वह किसी भी कीमत पर 'एडजस्ट' करे या समझौता करे। बहुत कम औरतें ऐसी होती हैं जो बगैर मां या भाई के सहारे के, अलग रहने का और स्थितियों से जूझने का कदम उठाती हैं। सिर पर छत का जुगाड़ करना और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना अलग रहने की पहली शर्त है और यह बहुत आसान नहीं है। इसके लिए जरूरी है कि औरत सही समय पर निर्णय ले।

एक पढ़ी-लिखी औरत की तकलीफ यह भी होती है—'जब तक सिर्फ पत्नी बने रहो, कहीं कुछ नहीं बिगड़ता। घर संभालो, बच्चों की देख-रेख करो....सब कुछ बहुत ठीक-ठाक चलता है, लेकिन जैसे ही अपनी कोई पहचान कायम करने की

कोशिश करो, चीजें दूसरी ही शक्ल लेने लगती हैं।'

वह जानती है कि आज उसने जो समझ अपनी पहली पीढ़ी या अपनी मां की घर में स्थिति को देखते हुए अर्जित की है, वह समझ उसके लिए खतरनाक साबित हो सकती है। किसी अर्द्धशिक्षित घरेलू औरत के लिए पति और घर की जरूरतों के मुताबिक अपने-आपको मोड़ लेना जितना आसान होता है, उतना उस समझदार औरत के लिए नहीं जो अपनी जेहनी (दिमागी) काबलियत के बलबूते पर अपनी एक आइडेंटिटी बनाना चाहती है; इसलिए किसी भी समझदार औरत को एक साथ कई मोर्चे संभालने पड़ते हैं।

कामकाजी औरतों के पास एक विकल्प हो सकता है पर वहां आर्थिक नहीं, सामाजिक असुरक्षा की भावना पहले घेरती है। किसी अन्य पुरुष हमदर्द को लेकर पहला संशय यह घेर लेता है कि वह पुरुष भी पति होने के बाद, पहले पति जैसा सुलूक नहीं करेगा—इसकी क्या गारंटी है? एक औरत के लिए कई तरह के डर और सीमाएं हैं, जिनका फायदा औसत पति बखूबी उठाना जानता है। यह अच्छी तरह जानने-समझने के बाद ही कि उसकी पत्नी के लिए 'और कोई रास्ता नहीं है,' वह आश्वस्त भाव से मनमानी यंत्रणा (टॉर्चर) का दुश्चक्र जारी रखता है।

घरेलू हिंसा का एक बेहद सूक्ष्म प्रकार है जिसे 'मानसिक प्रताड़ना' कहा जा सकता है। पुरुष/ पति पांच-सात वर्ष साथ रहने के बाद यह संध लेता है कि वह किस 'जाति' या 'किस्म' की औरत के साथ है। वह जानता है कि अपनी पत्नी को सजा देने का सबसे बेहतरीन तरीका या नुस्खा क्या है। उसे कितने नुकीले या कितने भोथरे औजार किस तरह से इस्तेमाल करने हैं। वह जानता है कि पत्नी पर शारीरिक बल का इस्तेमाल कर या उसे चांटा मारकर वह उतनी तकलीफ नहीं पहुंचा सकता, जितनी उसकी उपेक्षा या अवहेलना करके। वह अपनी संभ्रांतता का मुखौटा 'इनटैक्ट' रखकर एक साधुनुमा तटस्थता अपना लेता है। वह अपने ही घर में इस तरह रहता है जैसे उस घर में बच्चे हैं, नौकर हैं, आने-जाने वाले मेहमान हैं, नहीं है तो सिर्फ उसकी पत्नी। पत्नी की 'उपस्थिति' या उसके 'अस्तित्व' को पूरी तरह योजनाबद्ध तरीके से नकारते हुए वह अपनी पत्नी को अवहेलना के धीमे जहर से खत्म करना चाहता है। 'संवादहीनता' की स्थिति से पैदा हुई इस 'स्लो डेथ' को जब तक पत्नी पहचानाने की कोशिश करती है, वह भीतर से पूरी तरह टूट चुकी होती है। बहरहाल, यह एक हद तक आकारहीन स्थिति लग सकती है और इसे वे ही औरतें सही तरीके से समझ सकती हैं जिन्होंने इस 'धीमी मौत' को अपने भीतर घटते हुए

देखा है, पहचाना है।

यह जानना आश्चर्यजनक है कि न सिर्फ भारत में, बल्कि विश्व के सभी देशों में—थोड़े-बहुत संस्कारगत अंतर के बावजूद—औरत की स्थिति कमोबेश यही है। कामकाजी औरतों को भी इस स्थिति को समझने-परखने, उसका सही जायजा लेने और अपने को 'एसर्ट' करने या अपने हक का दावा करने में थोड़ा वक्त लगता है। आखिर एक औरत को सिर्फ पत्नी और एक मां बनकर ही सारी उम्र नहीं रहना है, उसे एक 'व्यक्ति' के रूप में भी अगर अपनी उपस्थिति दर्ज करनी है और इसकी सुविधाएं उसे नहीं हैं तो उसे अपनी रणनीति तो तय करनी ही होगी।

हिंसा के लिए उठे हुए हाथ को रोकना — यह अस्मिता की रक्षा की पहली शर्त है। बहुत कम औरतें ऐसी होंगी जो पहली बार ही पति के उठे हुए हाथ को रोक दें। जब पति का हाथ मारने के लिए उठता है तो वह प्रायः एक ढीला-सा प्रतिकार करती है। यह प्रकारांतर से उसे और बढ़ावा देना है। वह पति की इस हरकत को शराब का नशा या पति की दफ्तरी कुंठा या किसी नामालूम-सी असफलता की वजह मानकर, और उसे जस्टीफाई कर, आने वाली पूरी जिंदगी के लिए अपने-आपको एक जल्लाद के हाथों सौंप देती है।

जबकि वस्तुतः उसे यह समझना चाहिए कि भले ही इसके मूल में कोई दफ्तरी परेशानी या असफलता है, पर इसके लिए चूंकि स्थितियां जिम्मेदार हैं, पत्नी नहीं, इसलिए उससे उपजे परिणाम या कुंठा या हिंसक तोड़-फोड़ की शिकार वह क्यों हो? वह घर का बेजान फर्नीचर या रेडियो-टीवी तो है नहीं कि पति जब चाहे स्विच ऑन/ऑफ कर दे।

औरत के लिए आत्मविश्वास बहुत जरूरी है। उसे यह मालूम होना चाहिए कि वह यदि शारीरिक हिंसा का शिकार होती है तो इनकी जिम्मेदारी वह नहीं है। पुरुष अपनी सफाई में कारणों का पूरा बही-खाता खोलकर रख सकता है कि उसकी पत्नी में फलां-फलां कमियां हैं। आंखें मूंदकर उसे स्वीकार करने या हीन भावना का शिकार होने की बजाय औरत को स्वयं आत्मविश्लेषण करना चाहिए या किसी मनोविश्लेषक की मदद लेनी चाहिए।

आत्मविश्वास के लिए सबसे जरूरी शर्त है— आर्थिक आत्मनिर्भरता। किसी भी महानगर में रहने वाली मध्यवर्ग की एक पढ़ी-लिखी जहीन औरत भी अगर नौकरी न कर सिर्फ 'हाउसवाइफ' या गृहिणी बनकर रहना स्वीकार करती है तो वह जानबूझकर अपने पांव पर कुल्हाड़ी मारती है, क्योंकि औसतन बहुत कम पति ऐसे होंगे जो एक 'फुल-टाइम हाउसवाइफ' को उसकी अपेक्षित इज्जत का हक दे पाएं।

मध्यवर्ग की औरत के लिए अपने समाज और पति की नजरों में ऊपर उठने और इज्जत पाने की पहली सीढ़ी है—आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़े होना। इसके बाद ही वह अपनी शर्तों पर जिंदा रहने की बात सोच सकती है।

कई बार सिर्फ धमकी कारगर सिद्ध नहीं होती। अक्सर पत्नी हर बार पारिवारिक कलह होने पर घर छोड़कर चले जाने की बात दोहराती है। कुछ दिनों के बाद पति यह अच्छी तरह समझ लेता है कि पत्नी का यह कहना सिर्फ गीदड़धमकी है और उसकी पत्नी के पास कोई विकल्प नहीं है। यह जानकारी उसकी क्रूरता में पलीते का काम करती है।

पति-पत्नी के बीच शारीरिक हिंसा के सबसे मासूम शिकार बच्चे होते हैं। बचपन से ही वे दहशतजदा माहौल में बड़े होते हैं जो किसी भी रूप में बच्चे के मानसिक विकास और फैलाव के लिए हानिकारक सिद्ध होता है, इसलिए अधिकांश औरतें यदि पति की प्रताड़ना को इसलिए सहती हैं कि बच्चों पर एक अदद नामधारी बाप का साया बना रहे तो वे गलत सोचती हैं। असामान्य कलहपूर्ण वातावरण में बच्चों के स्वाभाविक विकास को ऐसी स्थायी क्षति पहुंचती है जो बाद में बच्चों को बुरे व्यसनो, ड्रग्स या असुरक्षा की गहरी बीमार मानसिकता में ढकेल देती है।

हिंसक पति को उसकी आदतों या बुरी लत से बाहर निकालना एक घुमावदार चक्र में से बड़ी चतुराई के साथ रास्ता ढूंढने के समान है। इसके लिए जरूरी है कि पत्नी अपने मन में निराशा, हीन भावना या हताशा को स्थान न जमाने दे। कोई भी गलत तात्कालिक निर्णय लेने से पहले पत्नी को 'सहज संगति' (हारमनी) बिठाने की कोशिश करनी चाहिए। हर समस्या का कोई तयशुदा हल नहीं हो सकता। अलग-अलग स्वभाव और समस्या की गंभीरता के अनुरूप हल तक पहुंचने का तरीका कुछ भी हो, पर औरत का अपनी निजी निराशा से उबरना अत्यंत आवश्यक है, ताकि वह बच्चों को इस हिंसक आंच की झुलसन से बचा सके।

पिछले दिनों मैंने डॉ. जॉन ग्रे की एक पुस्तक पढ़ी— 'मेन आर फ्रॉम मार्स, वूमेन आर फ्रॉम वीनस।' इसमें डॉ. जॉन ग्रे ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों-प्रसंगों का उल्लेख करते हुए एक अच्छे दांपत्य जीवन को सुचारु रूप से चलाने के कई कारगर तरीकों का उल्लेख किया है। आश्चर्य होता है कि अमेरिका या यूरोप या किसी भी देश की दांपत्य से संबद्ध समस्याओं में कितनी समानता है।

आज वैश्विक स्तर पर जिस तरह परिवारों का विघटन हो रहा है, अमेरिका में

आठ-नौ साल के बच्चे आत्महत्या जैसा कदम उठाते हैं, इसे देखते हुए आज भी लगता है कि भारत में बड़े महानगरों के सारे तनावों के बावजूद, कोई हल निकालने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

मेरी सबसे बड़ी शिकायत स्कूलों और कॉलेजों की अव्यावहारिक शिक्षा-पद्धति से है। हमारे शिक्षा-संस्थानों में भारी-भरकम किताबों से लदे-फंदे सिलेबस में जीवन-शिक्षा या प्रैक्टिकल ट्रेनिंग के लिए कोई स्थान नहीं है। छात्रों को हम रसायन, भौतिकी, भूगोल, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषाविज्ञान तथा साहित्य में शेक्सपीयर से लेकर महादेवी वर्मा की भावभीनी कविताओं तक हर किस्म का ज्ञान देने की यथासंभव कोशिश करते हैं। कॉन्वेंट स्कूलों में मॉरल साइंस या धर्म-आचार विज्ञान के लिए जगह बनाई गई है। स्कूलों में टूटे हुए घरों या एकल अभिभावक के असामान्य बच्चों के लिए प्रशिक्षित सलाहकार (ट्रेड काउंसिलर) की व्यवस्था की गई है। लेकिन 'प्रिक्वॉशन इज बेटर दैन क्योर' के सिद्धांत को मद्दे नजर रखते हुए हमें चाहिए कि कॉलेज के स्तर पर जिस तरह हम अपनी छात्राओं को पाठ्यक्रम की पुस्तकों द्वारा एमए और पीएचडी की डिग्रियों के काबिल बनाते हैं, वैसे ही उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता और अपनी अस्मिता की लड़ाई की भी शिक्षा दें।

यह बहुत आवश्यक है कि हम युवा लड़कियों को जीवन-शास्त्र या आत्म-सम्मान की व्यावहारिक शिक्षा और संस्कार दें। उन्हें अपनी एक पहचान देने की कोशिश करें। उन्हें बताएं कि वे दहलीज पर पड़े हुए जूतों की जोड़ी नहीं हैं, जिसे पुरुष जब चाहे पैरों में सजाकर बाहर चल दे और जब चाहे घर के किसी धूल-अंटे कोने में पटक दे। जिस तरह के संस्कार हमारी, मध्यवर्ग की, युवा लड़कियों को अपने दकियानूसी घर-परिवारों से लगातार मिलते रहे हैं, जिस तरह की सहनशीलता का घोल उन्हें जन्मघुट्टी में घोलकर पिलाया जाता है, उसे पूरी तरह स्थगित करते हुए, अपनी अगली पीढ़ी को आत्म सम्मान के साथ जीने और सिर उठाकर चलने के काबिल बनाएं।

अंत में एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत है—

वैज्ञानिक कीड़े-मकौड़ों और पशु-पक्षियों पर कुछ प्रयोग करते हैं। एक वैज्ञानिक ने दो मेढक लिए। एक मेढक को उसने काफी गरम पानी में छोड़ा, पानी के उस गरम तापमान को झेल पाने में असमर्थ वह फौरन कूदकर बाहर आ गया। अब उसने दूसरे

मेढक को ठंडे पानी में डाला, मेढक उसमें आराम से तैरता कूदता रहा, उसने बाहर छलांग नहीं लगाई। वैज्ञानिक ने धीरे-धीरे पानी का तापमान बढ़ाया और उसे धीरे-धीरे बढ़ाते हुए बहुत गरम कर दिया। मेढक उस गरम होते तापमान का धीरे-धीरे अभ्यस्त हो गया। और जब उसका शरीर तापमान नहीं झेल पाया तो वह मर गया।

औरतों के साथ यही हुआ है। सदियों से उनका अनुकूलन किया गया है। वह हर तरह के तापमान की इस कदर अभ्यस्त हो जाती हैं कि एक नए घर के नए माहौल में नए लोगों के बीच धीरे-धीरे बढ़ते तापमान के साथ तालमेल बिठाना सीख जाती हैं और यह तालमेल अंततः उनकी मर्यादित शोभायात्रा में उनकी मांग में सिंदूर के रूप में उनकी सजी हुई अर्थी में दीखता है।

लेकिन आज समय ने करवट बदली है। सभी औरतें मरतीं नहीं। वे देर से ही सही, पर बढ़ते हुए तापमान को पहचानना सीख गई हैं। खतरे की आहट को सुन रही हैं। अपने जिंदा होने के मूल्य को समझ पा रही हैं। मानसिक यातना और बारीक हिंसा को पहचानकर उन पर सवाल खड़े करती हैं और बाहर आने का हौसला भी दिखती हैं। अपनी खोई हुई अस्मिता और मानवीय पहचान को दोबारा संवारती हैं।

इस तरह वे अपना जीवन संवारने वाली औरतों के कारवां में शामिल होती हैं। और यह कारवां दिन पर दिन पर दिन बढ़ता जाएगा, इसमें संदेह नहीं।

स्त्री-सशक्तीकरण धीरे-धीरे बढ़ते हुए इस असहनीय तापमान से स्त्री का मोहभंग करने, उसे जागरूक बनाने और उसे एक पहचान देने की प्रक्रिया का नाम है।



अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी

प्यारी माँ और बाबा,

चरण-स्पर्श !

मुझे मालूम है बाबा, लिफाफे पर मेरी हस्तलिपि देखकर लिफाफे को खोलते हुए तुम्हारे हाथ काँप गए होंगे। तुम बहुत एहतियात के साथ लिफाफा खोलोगे कि भीतर रखा हुआ मेरा खत फट न जाए।

सोचते होंगे कि एक साल बाद आखिर मैं तुम लोगों को खत क्यों लिखने बैठी। कभी तुम अपने डाकघर से, कभी बाबला या बउदी अपने ऑफिस से फोन कर ही लेते हैं फिर खत लिखने की क्या जरूरत। नहीं, डरो मत, ऐसा कुछ भी नया घटित नहीं हुआ है। कुछ नया हो भी क्या सकता है?

बस, हुआ इतना कि पिछले एक सप्ताह से मैं अपने को बार-बार तुम लोगों को खत लिखने से रोकती रही। क्यों? बताती हूँ। तुम्हें पता है न बंबई में बरसात का मौसम शुरू हो गया है। मैं तो मना रही थी कि बरसात जितनी टल सके, टल जाए, लेकिन वह समय से पहले ही आ धमकी। और मुझे जिसका डर था, वही हुआ। इस बार बरसात में पार्क की गीली मिट्टी सनी सड़क से उठकर उन्हीं लाल

केंचुओं की फौज घर के भीतर चली आई है। रसोई में जाओ तो मोरी के कोनों से ये केंचुए मुँह उचका-उचकाकर झाँकते हैं, नहाने जाओ तो बाल्टी के नीचे कोनों पर वे बेखौफ चिपके रहते हैं। कभी-कभी पैरों के नीचे अचानक कुछ पिलपिलासा महसूस होता है और मैं डर जाती हूँ कि कहीं मेरे पाँव के नीचे आकर कोई केंचुआ मर तो नहीं गया?

इस बार मुझे बाँकुड़ा का वह अपना (देखो, अब भी वही घर अपना लगता है) घर बहुत याद आया। बस, ये यादें ही तुम्हारे साथ बाँटना चाहती थी। पता नहीं तुम्हें याद है या नहीं, पता नहीं बाबला को भी याद होगा या नहीं, हम कितनी बेसब्री से बरसात के आने का इंतजार करते थे। मौसम की पहली बरसात देखकर हम कैसे उछलते-कूदते, माँ को बारिश के आने की खबर देते, जैसे पानी की बूँदें सिर्फ हमें ही दिखाई देती हैं और किसी को नहीं। पत्तों पर टप-टप-टप बूँदों की आवाज और उसके साथ हवा में गमकती फैलती मिट्टी की महक हमें पागल कर देती थी। हम अखबार को काट-काटकर कागज की नावें बनाते और उन्हें तालाब में छोड़ते। माँ झींखती रहती और हम सारा दिन पोखर के पास और आँगन के बाहर हाथ में नमक की पोटली लिए बरसाती केंचुओं को ढूँढ़ते रहते थे। वे इधर-उधर बिलबिलाते-से हमसे छिपते फिरते थे और हम उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर मारते थे। नमक डालने पर उनका लाल रंग कैसे बदलता था, केंचुएँ हिलते थे और उनका शरीर सिकुड़कर रस्सी हो जाता था। बाबला और मुझमें होड़ लगती थी कि किसने कितने ज्यादा केंचुओं को मारा। बाबला तो एक-एक केंचुए पर मुट्ठी भर-भरकर नमक डाल देता था।

माँ, तुम्हें याद है, तुम कितना चिल्लाती थीं बाबला पर.....‘इतना नमक डालने की क्या जरूरत है रे खोका।’ पर फिर हर बार जीतता भी तो बाबला ही था.....उसके मारे हुए केंचुओं की संख्या ज्यादा होती थी। बाबा, तुम डाकघर से लौटते तो पूछते— ‘तुम दोनों हत्यारों ने आज कितनों की हत्या की?’ फिर मुझे अपने पास बिठाकर प्यार से समझाते— ‘बाबला की नकल क्यों करती है रे। तू तो माँ अन्नपूर्णा है, देवीस्वरूपा, तुझे क्या जीव-जंतुओं की हत्या करना शोभा देता है। भगवान पाप देगा रे!’ आज मुझे लगता है बाबा, तुम ठीक कहते थे। हत्या चाहे मनुष्य की हो या जीव-जंतु की, हत्या तो हत्या है।

तो क्या बाबा, उस पाप की सजा यह है कि बाँकुड़ा के बाँसपुकुर से चलकर इतनी दूर बंबई के अंधेरी इलाके के महाकाली कैक्स रोड के प्लैट में आने के बाद भी वे सब केंचुए मुझे घेर-घेरकर डराते हैं, जिन्हें पुकुर के आसपास नमक छिड़क-छिड़ककर मैंने मार डाला था।

यह मेरी शादी के बाद की पाँचवीं बरसात है। बरसात के ठीक पहले ही तुमने मेरी शादी की थी। जब बाँकुड़ा से बंबई के लिए मैं रवाना हुई, तुम सबकी नम आँखों में कैसे दीये टिमटिमा रहे थे। जैसे तुम्हारी बेटी न जाने कौन से परिलोक जा रही है, जहाँ दिव्य अप्सराएँ उसके स्वागत में फूलों के थाल हाथों में लिए खड़ी होंगी। यह परिलोक, जो तुम्हारा देखा हुआ नहीं था, पर तुम्हारी बेटी के सुंदर रूप के चलते उसकी झोली में आ गिरा था, वरना क्या अन्नपूर्णा और क्या उसके डाकिया बापू शिवू मंडल की औकात थी कि उन्हें रेलवे की स्थाई नौकरीवाला सुदर्शन वर मिलता! तुम दोनों तो अपने जमाई राजा को देख-देखकर ऐसे फूले नहीं समाते थे, कि मुझे बीए की सालाना परीक्षा में भी बैठने नहीं दिया और दूसरे दर्जे की आरक्षित डोली में बिठाकर विदा कर दिया।

जब मैं अपनी बिछुआ-झाँझर सँभाले इस परिलोक के द्वार दादर स्टेशन पर उतरी तो लगा जैसे तालाब में तैरना भूल गई हूँ। इतने आदमी तो मैंने अपने पूरे गाँव में नहीं देखे थे। यहाँ स्टेशन के पुल की भीड़ के हुजूम के साथ सीढ़ियाँ उतरते हुए लगा जैसे पेड़ के सूखे पत्तों की तरह हम सब हवा की एक दिशा में झर रहे हैं। देहाती-सी लाल साड़ी में, तुम्हारे जीवन-भर की जमा-पूँजी के गहने और कपड़ों का बक्सा लिए, जब अंधेरी की ट्रेन में इनके साथ बैठी तो साथ बैठे लोग मुझे ऐसे घूर रहे थे जैसे मैं और बाबला कभी-कभार कलकता के चिड़ियाघर में वनमानुष को घूरते थे और जब महाकाली कैक्स रोड के घर का जंग खाय़ा ताला खुला तो जानते हो, सबसे पहले दहलीज़ पर मेरा स्वागत किसने किया था—दहलीज़ की फाँकों में सिमटे-सरकते, गरदन उचकाते लाल-लाल केंचुओं ने। उस दिन मैं बहुत खुश थी। मुझे लगा, मेरा बाँकुड़ा मेरे आँचल से बँधा-बँधा मेरे साथ-साथ चला आया है। मैं मुस्कराई थी। पर मेरे पति तो उन्हें देखते ही खूँखार हो उठे। उन्होंने चप्पल उठाई और चटाख-चटाख सबको रौंद डाला। एक-एक वार में उन्होंने सबका काम तमाम कर डाला था। तब मेरे मन में पहली बार इन केंचुओं के लिए माया-ममता उभर आई थी। उन्हें इस तरह कुचले जाते हुए देखना मेरे लिए बहुत यातनादायक था।

दस दिन हमें एकांत देकर आखिर इनकी माँ और बहन भी अपने घर लौट आई थीं। अब हम रसोई में परदा डालकर सोने लगे थे। रसोई की मोरी को लाख बंद करो, ये केंचुए आना बंद नहीं करते थे। पति अक्सर अपनी रेलवे की ड्यूटी पर सफर में होते और मैं रसोई में। और रसोई में बेशुमार केंचुए थे। मुझे लगता था, मैंने अपनी माँ की जगह ले ली है, और मुझे सारा जीवन रसोई की इन दीवारों

के बीच इन केंचुओं के साथ गुजारना है। एक दिन एक केंचुआ मेरी निगाह बचाकर रसोई से बाहर चला गया और सास ने उसे देख लिया। उनकी आँखें गुस्से से लाल हो गईं। उन्होंने चाय के खौलते हुए पानी की केतली उठाई और रसोई में बिलबिलाते सब केंचुओं पर गालियाँ बरसाते हुए उबलता पानी डाल दिया। सच मानो बाबा, मेरे पूरे शरीर पर जैसे फफोले पड़ गए थे। जैसे खौलता हुआ पानी उन पर नहीं, मुझे पर डाला गया हो। वे सब फौरन मर गए, एक भी नहीं बचा। लेकिन मैं जिंदा रही। मुझे तब समझ में आया कि मुझे अब बाँकुड़ा के बिना जिंदा रहना है। पर ऐसा क्यों हुआ बाबा कि मुझे केंचुओं से डर लगने लगा। अब वे जब भी आते, मैं उन्हें वापस मोरी में धकेलती, पर मारती नहीं। उन दिनों मैंने यह सब तुम्हें खत में लिखा तो था, पर तुम्हें मेरे खत कभी मिले ही नहीं। हो सकता है, यह भी न मिले। या मिल भी जाए तो तुम कहो कि नहीं मिला। फोन पर मैंने पूछा भी था—‘चिट्ठी मिली?’ तुमने अविश्वास से पूछा—‘पोस्ट तो की थी या.....।’ मैं हँस दी थी—‘अपने पास रखने के लिए थोड़े ही लिखी थी।’ तुमने आगे कुछ नहीं कहा और बात खत्म।

फोन पर इतनी बातें करना संभव कहाँ है। फोन के तारों पर मेरी आवाज जैसे ही तुम तक तैरती हुई पहुँचती है, तुम्हें लगता है, सब ठीक है। जैसे मेरा जिंदा होना ही मेरे ठीक रहने की निशानी है। और फोन पर तुम्हारी आवाज सुनकर मैं परेशान हो जाती हूँ, क्योंकि फोन पर मैं तुम्हें बता नहीं सकती कि तुम जिस आवाज को मेरी आवाज समझ रहे हो, वह मेरी नहीं है। तुम फोन पर मेरा कुशल-क्षेम ही सुनना चाहते हो और मैं तुम्हें केंचुओं के बारे में कैसे बता सकती हूँ? तुम्हारी आवाज से मैं चाहकर भी तो लिपट नहीं सकती। मुझे तब सत्रह सौ किलोमीटर की दूरी बुरी तरह खलने लगती है।

इतनी लंबी दूरी को पार कर डेढ़ साल पहले जब मैं वहाँ बाँकुड़ा पहुँची थी, मुझे लगा था, मैं किसी अजनबी गाँव में आ गई हूँ जो मेरा नहीं है। मुझे वापस जाना ही है, यह सोचकर मैं अपने आने को भी भोग नहीं पाई। मैंने शिथिल होकर खबर दी थी, कि मुझे तीसरा महीना चढ़ा है। मैं आगे कुछ कह पाती कि तुम सब में खुशी की लहर दौड़ गई थी। माँ ने मुझे गले लगा लिया था, बउदी ने माथा चूम लिया था। मैं रोई थी, चीखी थी, मैंने मित्रों की थी कि मुझे यह बच्चा नहीं चाहिए, कि उस घर में बच्चे की किलकारियाँ सिसकियों में बदल जाएँगी, पर तुम सब पर कोई असर नहीं हुआ। तुम चारों मुझे घेरकर खड़े हो गए.....भला पहला बच्चा भी कोई गिराता है, पहले बच्चे को गिराने से फिर गर्भ ठहरता ही नहीं, माँ बनने

में ही नारी की पूर्णता है, माँ बनने के बाद सब ठीक हो जाता है, औरत को जीने का अर्थ मिल जाता है। माँ, तुम अपनी तरह मुझे भी पूर्ण होते हुए देखना चाहती थीं। मैंने तुम्हारी बात मान ली और तुम सबके सपनों को पेट में सँजोकर वापस लौट आई।

वापस। उसी महाकाली की गुफाओं वाले फ्लैट में। उन्हीं केंचुओं के पास। बस, फर्क यह था कि अब वे बाहर फर्श से हटकर मेरे शरीर के भीतर रेंग रहे थे। नौ महीने मैं अपने पेट में एक दहशत को आकार लेते हुए महसूस करती रही। पाँचवें महीने मेरे पेट में जब उस आकार ने हिलना-डुलना शुरू किया, मैं डर से काँपने लगी थी। मुझे लगा, मेरे पेट में वही बरसाती केंचुए रेंग रहे हैं, सरक रहे हैं। आखिर वह घड़ी भी आई, जब उन्हें मेरे शरीर से बाहर आना था। और सच माँ, जब लंबी बेहोशी के बाद मैंने आँखे खोलकर अपनी बगल में सिलवटों वाली चमड़ी लिए अपनी जुड़वाँ बेटियों को देखा, मैं सकते में आ गई। उनकी शकल वैसी ही गिजगिजी लाल केंचुओं जैसी झुर्रीदार थी। मैंने तुमसे कहा भी था.....देखो तो माँ, ये दोनों कितनी बदशकल हैं, पतले-पतले ढीले-ढाले हाथ-पैर और साँवली-मरगिल्ली-सी। तुमने कहा था— बड़ी बोकी है रे तू, कैसी बातें करती है, ये तो साक्षात् लक्ष्मी-सरस्वती एक साथ आई हैं तेरे घर। तुम सबने कलकत्ता जाकर अपनी बेटि और जमाई बाबू के लिए कितनी खरीदारी की थी, बउदी ने खास सोने का सेट भिजवाया था। सब दान-दहेज समेटकर तुम यहाँ आई और चालीस दिन मेरी, इन दोनों की और मेरे ससुरालवालों की सेवा-टहल करके लौट गई। इन लक्ष्मी-सरस्वती के साथ मुझे बाँधकर तुम तो बाँकुड़ा के बाँसपुकुर लौट गई; मुझे बार-बार यही सुनना पड़ा— एक कपालकुंडला को अस्पताल भेजा था, दो को और साथ ले आई।

बाबा, कभी मन होता था, इन दोनों को बाँधकर तुम्हारे पास पार्सल से भिजवा दूँ कि मुझसे ये नहीं सँभलतीं, अपनी ये लक्ष्मी-सरस्वती-सी नातिनें तुम्हें ही मुबारक हों, पर हर बार इनकी बिटर-बिटर-सी ताकती हुई आँखें मुझे रोक लेती थीं।

माँ, मुझे बार-बार ऐसा क्यों लगता है कि मैं तुम्हारी तरह एक अच्छी माँ कभी नहीं बन पाऊँगी, जो जीवन-भर रसोई की चारदीवारी में बाबला और मेरे लिए पकवान बनाती रही और फालिज की मारी ठाकुर माँ की चादरें धोती-समेटती रही। तुम्हारी नातिनों की आँखें मुझसे वह माँगती हैं, जो मुझे लगता है, मैं कभी उन्हें दे नहीं पाऊँगी।

इन पाँच-सात महीनों में कब दिन चढ़ता, कब रात ढल जाती, मुझे तो पता भी नहीं चला। इस बार की बरसात ने आकर मेरी आँखों पर छाये सारे परदे गिरा दिए हैं। ये दोनों घिसटना सीख गई हैं। सारा दिन कीचड़-मिट्टी में सनी केंचुओं से खेलती रहती हैं। जब ये घुटनों घिसटती हैं, मुझे केंचुए रंगते दिखाई देते हैं और जब बाहर सड़क पर मैदान के पास की गीली मिट्टी में केंचुओं को सरकते देखती हूँ तो उनमें इन दोनों की शक्ल दिखाई देती है। मुझे डर लगता है, कहीं मेरे पति घर में घुसते ही इन सब पर चप्पलों की चटाख-चटाख बौछार न कर दें या मेरी सास इन पर केतली का खौलता हुआ पानी न डाल दें। मैं जानती हूँ, यह मेरा वहम है पर यह लाइलाज है और मैं अब इस वहम का बोझ नहीं उठा सकती।

इन दोनों को अपने पास ले जा सको तो ले जाना। बाबला और बउदी शायद इन्हें अपना लें। बस, इतना चाहती हूँ कि बड़ी होने पर ये दोनों अगर आसमान को छूना चाहें तो यह जानते हुए भी कि वे आसमान को कभी छू नहीं पाएँगी, इन्हें रोकना मत।

इन दोनों के रूप में तुम्हारी बेटी तुम्हें सूद सहित वापस लौटा रही हूँ इनमें तुम मुझे देख पाओगे शायद।

बाबा, तुम कहते थे न-आत्माएँ कभी नहीं मरतीं। इस विराट व्योम में, शून्य में, वे तैरती रहती हैं-परम शांत होकर। मैं उस शांति को छू लेना चाहती हूँ। मैं थक गई हूँ बाबा। हर शरीर के थकने की अपनी सीमा होती है। मैं जल्दी थक गई, इसमें दोष तो मेरा ही है। तुम दोनों मुझे माफ कर सको तो कर देना।

इति।

तुम्हारी आज्ञाकारिणी बेटी

अन्नपूर्णा मण्डल

आर्थिक आत्मनिर्भरता घरेलू हिंसा से निबटने की पहली शर्त है

12 मार्च 2007 को भोपाल के भारत भवन में एक कार्यक्रम का आयोजन हुआ था -स्वयंसिद्धा—जिसमें कई भारतीय भाषाओं की कवयित्रियाँ थीं। ओड़िया भाषा की युवा कवयित्री सुचेता मिश्र ने अपनी एक बेहद मार्मिक कविता का अंग्रेजी रूपांतर सुनाया था जिसका अनुवाद वहीं मैंने हिन्दी में कर लिया। वह कविता है-
हर साल जितने पेड़ कटते हैं, उससे ज्यादा कटती हैं औरतें।

वह एक पेड़ थी
एक पेड़ को पहचानने के लिए
खुद को पेड़ बनना पड़ता है
उसकी खरखराहट को छूने के लिए
अपनी छाया का सहारा लेना पड़ता है।
पहली बार जब मैं उससे मिली
उसने मुझे कसकर पकड़ा और खूब रोई
उसने मुझे बताया

कि उन्होंने उसे जड़ से उखाड़कर
 अपने आंगन में रोपा
 ताकि वह छाया और सुरक्षा दे सके
 दूसरी बार जब मैं उससे मिली
 वह मेरे कंधे से लगकर
 एक बार फिर रोयी
 वह रोयी, सिसकी और उसने कहा
 'मैंने सब कुछ देने की कोशिश की
 छाया, सुरक्षा, प्रेम, खुशबू
 पर उन्हें कुछ और चाहिए था
 उन्होंने मेरे पत्ते गिने
 और उन्हें पैसे से तोला
 फिर और पैसे की मांग की
 उससे भी ज़्यादा जितने मेरे पास पत्ते थे'
 तीसरी बार जब मैं उससे मिलने गई
 वह जा चुकी थी वह नहीं थी
 उसे काट डाला गया था और
 उसे अलाव में जला डाला था
 जिसमें उन्होंने अपने गीले हाथ सेंके और सुखाए
 उनके हाथों पर खून का, कत्ल का
 एक भी निशान नहीं था
 हर साल जितने पेड़ कटते हैं,
 उससे ज्यादा कटती हैं औरतें।
 सभी कटी हुई औरतें अलाव में इस्तेमाल नहीं होती
 कुछ को बना दिया जाता है बैसाखियां
 वर्ना यह विकलांग अपंग समाज
 बिना किसी सहारे कैसे खड़ा होता।

—सुचेता मिश्र

घरेलू हिंसा के आंकड़ों में नहीं जाना चाहती पर यह सच है कि दहेज के नाम पर या पति की अपनी किसी कुंठा के तहत औरतें तरह-तरह की यातना का शिकार होती हैं। इसके परिणाम में अगर औरत को अस्पताल भी ले जाना पड़े तो

वह बहाने बना देती है कि बाथरूम में फिसल कर गिर पड़ी या नहा कर उठते समय नल से सिर टकरा गया। यहाँ तक कि मिट्टी का तेल छिड़ककर अपने को आग लगा लेने या जला दिए जाने से अस्सी नब्बे प्रतिशत जली हुई औरतें, दम तोड़ते हुए भी अपनी आंखों के सामने अपनी बेटी या बेटे को देखकर हत्यारे पति को बचाने के लिए स्टोव के फटने की कहानी गढ़ कर सच्चाई को सामने नहीं आने देना चाहतीं ताकि बच्चे के सिर पर पिता का साया बना रहे।

हिंसा का स्तर अगर हत्या तक नहीं भी पहुँचता तो भी लड़कियां झेलने और समझौता कर घर गृहस्थी चलाने की ताकत रहने तक अपने घर परिवार के लोगों को अपनी तकलीफ की खबर नहीं लगने देतीं। उन्हें लगता है, मां-बाप ने शादी कर अपनी जिम्मेदारी निभा दी, अब आगे की जिन्दगी का दारोमदार सिर्फ उनपर है जिसे उन्हें अपने दम पर निभाना है। किसी भी शहर में, महानगर में, कस्बे में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है।

“अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी” इसी मानसिकता को लेकर लिखी हुई कहानी है। यह कहानी मैंने पचीसों बार कथा गोष्ठियों में, महिला संगठनों की बैठकों में पढ़कर सुनाई है। हर बार यह सवाल उठाया जाता है कि यह कहानी किसी सच्ची घटना पर आधारित है क्या? पिछली पीढ़ी की औरतों को लगता है कि कहीं न कहीं उनका कोई हिस्सा इसमें है जरूर। इस कहानी में वे अपने को ढूंढती हैं। यह सच है कि इस कहानी के सूत्र मुझे एक वास्तविक घटना से मिले।

सन् 1994 की बात है। पश्चिम बंगाल के एक छोटे से गांव से एक बुजुर्ग सज्जन हमारे संगठन 'हेल्प' में आए थे। उन्होंने अपनी इकलौती बेटी की शादी मुंबई में की थी और बेटी ने अपनी एक साल की बच्ची को छोड़कर तीसरे माले से कूदकर आत्महत्या कर ली थी। उन्हें इस हादसे की जानकारी भी तत्काल नहीं मिली। उन्हें संदेह था कि उनकी बेटी को दहेज के लालच में मार डाला गया है। इसका कोई ठोस सबूत उनके पास नहीं था। संदेह की वजह बताते हुए उन्होंने अपने कांपते हुए हाथों से अपनी बेटी की खूबसूरत लिखाई में लिखे हुए कुछेक अन्तर्देशीय खतों का छोटा-सा पुलिन्दा हमें थमा दिया।

उन खतों ने मुझे बेहद परेशान किया था। वह काउंसिलिंग की शुरुआत के दिन थे। मैं बहुत 'सीज़न्ड' नहीं हुई थी इसलिए हर 'केस' मुझे डिस्टर्ब कर देता था। उन खतों को लिखने वाली बेहद संवेदनशील लड़की के चरित्र का रेशा-रेशा

उसके खतों की पंक्तियों में मेरे सामने बिखरा था। एक-एक पंक्ति गवाह थी कि लड़की मां-बाप की बेहद आज्ञाकारिणी और लाडली थी। पश्चिम बंगाल के एक छोटे-से कस्बे से निकलकर मुंबई जैसे महानगर में एक स्थायी नौकरी वाला सुदर्शन वर और अपनी औकात से बड़ा घर देखकर, अपनी पढ़ाई अधूरी छोड़कर, उसने मां बाप का मन रखने के लिए न चाहते हुए भी शादी कर ली थी। फिर भी उसके पास अपने कुछ खूबसूरत सपने तो थे ही जो शादी से पहले हर लड़की की पोटली में बंधे होते हैं। लेकिन सपनों से उतरकर जैसे ही वह ज़मीन पर आती है, उसे समझने में देर नहीं लगती कि शादी के बाद उसे अपने हालात से खुद जूझना है और अपनी निजी समस्याओं से मां-बाप को परेशान नहीं करना है, लेकिन कुछ था जिसे वह हर हाल में बांटना चाहती थी। उसके खतों में उसके छोटे-से कस्बे की, सखी सहेलियों की, तालाब और मछली की, बगान के फूलों और झूलों की यादें थीं और महानगर मुंबई में एक निहायत अलग किस्म के माहौल का टीसता- सा बयान था। हर खत में लगातार एक अंडरटोन थी जिसे समझ पाने में मां-बाप ने न उसे बुलाया, न खुद उससे मिलने आए। एक छोटे-से कस्बे से महानगर में आयीं कितनी लड़कियां ऐसी होंगी जो अच्छी तरह जानती हैं कि उनके माता-पिता नए घर में उसकी यातना और प्रताड़ना और स्थितियों से तालमेल न बिठा पाने की उसकी असमर्थता का बयान नहीं सुनना चाहते बल्कि उसका 'कुशल-क्षेम' ही सुनना चाहते हैं। जाहिर है, सिर्फ उन खतों के जरिए कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकती थी क्योंकि उन खतों में सीधे- सीधे किसी भी तरह की प्रताड़ना का संकेत भी नहीं था। उस बूढ़े पिता और भाई की कोई मदद नहीं की जा सकी। पर उस लड़की के बांग्ला भाषा में लिखे खत मेरे भीतर लंबे समय तक टीसते रहे।

कुछेक साल बाद मैं उसकी कहानी लिखना चाहती थी पर लिख नहीं पा रही थी। सीधे तकलीफ का बयान एक सपाट रिपोर्ट हो जाती है और वह अपेक्षित प्रभाव नहीं छोड़ती। यातना और दुख की 'सघनता' को पढ़नेवाले या सुननेवाले के भीतर उतारने के लिए एक बेहद सटीक प्रतीक की ज़रूरत थी। तभी एक दिन अपनी एक पुरानी कहानी 'महानगर की मैथिली' का शेल कॉलोनी-चेम्बूर वाला घर मेरे दिमाग में ताज़ा हो आया, जहाँ बारिश के दिनों में मोरी से लगातार निकलते केंचुओं से मैं आक्रांत रहती थी। बिना रीढ़ की हड्डी वाले लिजलिजे, पिलपिले केंचुए मुझे दहशत से भर देते थे। केंचुओ में वह दुख सघन होता दिखाई दिया। पूरी कहानी में केंचुए का प्रतीक लगातार साथ-साथ चलता है। मेरा वह चेम्बूर वाला घर-महाकाली केव्स रोड का वह कमरा बन गया, जहां बैठकर अन्नपूर्ण मंडल ने अपनी आखिरी

चिट्ठी अपने डाकियी बापू शिवू मंडल के नाम लिखी। जैसे ही बारिश और केंचुओं के प्रतीक का सूत्र मिला, कहानी एक सिटिंग में लिख ली गई। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय उन दिनों वागर्थ के संपादक थे और 'कथा समय' के लिए कहानी की लगातार मांग कर रहे थे। यह कहानी बहुत छोटी-सी थी। मैंने बड़े संकोच के साथ इसे एक और छोटी कहानी के साथ नत्थी करके भेज दिया। उन्होंने पढ़ने के बाद तत्काल फ़ोन किया—'इस एक कहानी के बाद किसी और कहानी की ज़रूरत नहीं रह जाती इसलिए दूसरी नहीं ले रहा।' 'वागर्थ' में ही अग्रज कथाकार मुद्राराक्षस ने जब इस कहानी का विस्तृत विश्लेषण किया तो मैंने भी नये सिर से कहानी को समझा। लिखते समय शायद मेरे जेहन में भी इतने अर्थ एकसाथ स्पष्ट नहीं हुए थे।

दिल्ली के आनंद ग्राम, संस्कृति केन्द्र में वीमेन्स वर्ल्ड की कार्यशाला में जब मैंने इस कहानी को पढ़कर सुनाया तो लखनऊ की शायरा अज़रा परवीन और कथाकार गज़ाल जैगम के आंसुओं ने मुझे भी हिला दिया। इस कहानी का अनुवाद पंजाबी पत्रिका 'मुहांदरा' के जनवरी-मार्च 2004 के अंक में जैसे ही आया, चण्डीगढ़ के नुक्कड़ नाटकों के लिए जाने माने सुप्रसिद्ध वरिष्ठ रंगकर्मी गुरशरण सिंह ने टोनी मॉरिसन की कहानी और इसे मिलाकर 8 मार्च 2004 को महिला दिवस के दिन एक नाटक खेला। बांकुड़ा की उस लड़की को मैं इसमें देखना चाहती थी जिसके खतों की अंडरटोन इस पूरी कहानी में व्याप्त है जिसमें 'रीडिंग बिटवीन द लाइन्स' की गुंजाइश अपने आप छूटती चली गई है। यह कहानी बांकुड़ा की उस खतों वाली लड़की को ही समर्पित है। हां, यह ज़रूर कहूंगी कि आत्महत्या जिन्दगी से न जूझ पाने और जिन्दगी से हार मान लेने का ही परिणाम है। हर व्यक्ति के जीवन में अंधेरे के बाद उजाला भी आता ही है। वह बांकुड़ा वाली लड़की भी अगर हिम्मत न हार जाती तो कौन जाने, अपनी बेटी की खिलखिलाहट उसमें जीने का नया हौसला भरती, वह अपनी छूटी हुई हुई पढ़ाई पूरी कर लेती और एक सम्मानजनक जीवन उसके लिए जीने के नये दरवाजे खोलता। अपने पैरों पर खड़े होने लायक शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता किसी भी लड़की को, अपने पर होने वाली यातना को पहचान पाने की इतनी ताकत तो देती ही है कि वह उससे बाहर निकलकर अपने लिए एक राह बनाए।



ताराबाई चॉल: कमरा नंबर एक सौ पैंतीस

उस बाँझ औरत के अड़तीस वर्षीय मरद को मरे आज चौदहवाँ दिन था।

नहाने के बाद निचोड़े हुए पेटिकोट से अपना गीला बदन पोंछते हुए अचानक उसकी निगाह आईने पर पड़ी। उसने आईने की धूल को गीली अँगुलियों से पोंछ दिया।

वह चौकी। हफ्तों, महीनों, बरसों से उसने आईना नहीं देखा था।

पिछली बार उसने आईना कब देखा था? शायद तब, जब शादी से पहले पाँचवीं कक्षा में पढ़ते समय वह स्कूल जाने से पहले बालों में रिबन बाँधती थी। आज उसे लगा जैसे वह पहली बार अपने को आईने में देख रही है। पहले जब वह आईने में देखकर चोटी गूँथती थी तो सिर्फ आँखें देखती थी, जब कानों में बुंदे पहनती तो उसकी आँखें सिर्फ कानों को देखती थीं। सारे बिखरे हुए टुकड़ों को मिलाकर उसने अपना चेहरा एक साथ पहली बार देखा।

आईना मटमैला था और छोटा। वह अपने पंजों पर उचकी। बहुत आहिस्ता उसने गीले बदन से कपड़ा हटाया। गले से नीचे उसने कभी अपने को आईने में देखा

ही नहीं था। वह एकटक देखती रही, देखती रही। सहसा जैसे पैर तले की जमीन रेत में बदल गई और पैर नीचे रेत में धँसने लगे। उसने दोनों हाथों से सिर थामा और आँखें बंद कर तहखाने में उतर गई। वह नीचे धँसती रही, धँसती गई, इतनी कि होठों तक रेत की किरकिरी गिजगिजाने लगी, दिल उछलकर हथेलियों में आ गया। उसने अपने को समेटा और लंबी साँस लेकर हथेलियों से बाएँ वक्ष के नीचे की धड़कन को महसूस किया। फिर अपने को ऊपर खींचा, जमीन पर पैरों को महसूस किया और वक्ष को काँपती हथेलियों की ओट से धीरे-धीरे आज़ाद किया। अब उसकी अँगुलियाँ वक्ष पर पड़े नए-पुराने जख्मों को सहला रही थीं। वक्ष पर दोनों ओर जगह-जगह कत्थई, काले निशान और सूखे हुए निशानों पर बने गड्डे थे। आखिरी निशान पंद्रह दिन पुराना था, जब हमेशा की तरह उसके मरद ने सहवास के बाद आदतन बीड़ी सुलगाई थी और आखिरी कश खींचकर उसके बाएँ वक्ष पर जलती सलाई-सा चुभो दिया था। वह दर्द से चीखी थी तो वह तमाखू सने दाँतों से मुस्कुरा दिया था। जब तक वह ज़ोर लगाकर झटकती, बीड़ी का टोंटा चमड़ी में भीतर तक खुब गया था। उसने सिसकारी भरते हुए उसका दायाँ हाथ मरोड़ दिया तो वह और जोर से खिलखिलाया था। बीड़ी या सिगरेट सुलगाकर उसके बदन पर जहाँ-तहाँ दाग देना उसका प्रिय शगल था।

‘तेरे बदन में कोढ़ फूटे, मरते बखत तुझे कोई पानी न दे।’ उसके मुँह से गालियों की बौछार झरती, पर मर्द तब तक करवट बदलकर खराटे भरने लगता। कमरा खराटों से भर जाता। उसकी आँखें छलछला आतीं। उसे मर्द की खिलखिलाहट और खराटों में कोई फर्क नहीं लगता था।

.....और उस दिन जब भायखला की लोकल ट्रेन दुर्घटना में उसके मर्द की जगह उसकी लाश लौटी तो उसे विश्वास नहीं हुआ। उस कमरे में जहाँ उसके मर्द का बेजान शरीर पड़ा था, छत से बारिश का पानी रिस-रिसकर उसके शरीर पर टपक रहा था। कमरे की खूँटी पर उसकी बदरंग कमीज़ टँगी थी और खराटे अब भी वहाँ दीवारों से चिपके बैठे थे। उसके वक्ष पर पिछली रात का जाता घाव पहले से ज्यादा टीसने लगा था। उसके बदन पर पड़े तमाम घाव जिंदा हो गए थे। वह दहाड़ें मार-मारकर रो रही थी, पता नहीं अपनी छाती पर रिसते जख्मों के कारण या अपने पति की मौत पर।

छत से टपकते पानी और उसके आँसुओं के बीच वह शरीर कब उठा लिया गया, उसे पता नहीं चला। उसने काले दानों वाला मंगलसूत्र उतारकर आले में रख

दिया। चार दिन बाद उसने काम पर जाना शुरू कर दिया।

वापस लौटने पर उसे कमरा बहुत बड़ा लगा। खुरदरे फ़र्श पर घुटनों रेंगते एक जोड़ी नन्हें पैरों की ललक और कमरे में बिखेरी गई चीज़ों का सपना ओनों-कोनों में दुबककर कमरे को खाली और भुतहा बना रहे थे। इसी कमरे में पहले वे दो भी भीड़ की तरह आपस में टकराते या एक-दूसरे से कतराते रहते थे। इसके बाद दिन भी उसे बड़े लगने लगे। काम से लौटकर वह रोज फ़र्श को रगड़-रगड़कर पोंछती, पर एक अजीब-सी गंध थी, जो ठहरे हुए समय की तरह वहाँ बैठ गई थी और जाने का नाम नहीं लेती थी। जब रात को काम से थकी-टूटी, पस्त होकर वह खाट पर लेटती तो छत पर टँगे और दीवारों पर बैठे हुए खर्राटे नीचे उतरकर उसके आसपास पसर जाते। छत की फाँक से मर्द की बेरहम खिलाखिलाहट बरसात के पानी की तरह झरने लगती। उसकी छाती पर रोज एक नया घाव खौलते पानी की तेज़ धार-सा पड़ता और वह चौंककर उठ जाती।

उसने अपने मर्द की सारी चीज़ों को उठाकर आँखों से परे रख दिया। ठर्रे की बोटल को दरवाजे से बाहर रखा और खूँटी पर टँगी कमीज को खाट के नीचे पड़े कपड़ों में डाल दिया। खूँटी पर पुराना आईना अटका दिया, जो पहले आले के कोने में पड़ा था और जिसमें वह सिर्फ़ अपने बाल या उचककर अपनी नाक देख सकती थी। अब वह आईना जब-तब न चाहते हुए भी उसके रास्ते में आ जाता था।

आईने में देखते हुए उसने वक्ष पर सूखते घाव की पपड़ी को अँगुली से जरा-सा छीला तो उसमें से खून की लाल बूँदें छलछलाने लगीं। उसका भरम था कि घाव सूख रहे हैं। वे अब भी गीले थे। उसने गीले पेटिकोट से आईने को ढक दिया और आइने के सामने से हट गई।

कपड़े पहनने के बाद उसने देखा, खिड़की की उखड़ी हुई काली लकड़ी की दरारों से छोटे-छोटे तिलचट्टे चौदह दिन से सूखे पड़े मर्द के दाँत माँजने के ब्रश पर चढ़ रहे थे। उसके पास ही कोने में सिगरेट का खाली पैकेट था। वह उसे मोड़कर फेंकने को हुई कि देखा, उसमें आखिरी एक सिगरेट बची हुई थी।

उसने सिगरेट सुलगाई और अपने मर्द के अंदाज में एक कश खींचा। फिर एक और। फिर एक और। आखिर एक जुनून में उसने जलते टोटे को अपने पेट

पर दबा दिया। पेट की नरम त्वचा पर अंगार पड़ते ही उसके मुँह से एक चीख निकली और ऊपर उठकर कमरे की छत तक फैल गई। उसकी आँखों की कोरों तक आँसू डबडबा रहे थे। सहसा रुलाई का गुबार गले तक उठा और वह फूट-फूटकर रोने लगी।

हिचकियों से थककर कुछ देर बाद वह शांत हो गई। पनीली आँखों से उसने खाट की ओर देखा। वहाँ उसके मर्द का धुंधलाया अक्स पैर हिलाते हुए बैठा था और उसके चेहरे की निर्मम हँसी आईने-सी साफ थी।



सहनशील धारित्री का आत्मपीड़क आनंद

हिंसा एक नकारात्मक भाव है और हिंसक व्यक्ति अपने भीतर की सारी कुंठाओं, सारे असंतोष को अपनी पत्नी या बच्चों (यानी ऐसे लोग जो शारीरिक रूप से उससे कमजोर हैं) के प्रति आक्रामक होकर अपने भीतर से बाहर निकालने की कोशिश करता है। इसके पीछे मुख्य कारण उसकी पत्नी के मुखर प्रतिवाद की अनुपस्थिति है। इस अनुपस्थिति का कारण भावात्मक भी होता है। एक औरत के संस्कार उसे सात फेरों की मर्यादा और गरिमा में इस कदर जकड़ लेते हैं कि वह बहुत-सा अनचाहा स्वीकार करती चलती है। प्रतिरोध वह तभी करती है, जब चीजें उसकी बर्दाश्त के परे चली जाती हैं और उसकी अंधेड़ होती देह आक्रामकता को और झेल नहीं पाती। कहीं- कहीं यह भी देखा जाता है कि समय के साथ वह इस हिंसा की भी ऐसी आदी हो जाती है कि यह पीड़ा उसे जिन्दगी का हिस्सा लगने लगती है।

महिला सलाहकार केंद्रों में अजीबोगरीब मामले सामने आते हैं। एक पढ़ी-लिखी (ग्रेजुएट और टीचर ट्रेनिंग का कोर्स पास) लड़की शादी के बाद पूरे समर्पित भाव से प्रसन्न मन अपने पति के साथ रही। डेढ़ साल बाद उसने एक बेटे को जन्म दिया। बेटे के जन्म के बाद अप्रत्याशित रूप से पति का रवैया बदल गया। उसी

शहर में रिश्ते की फुफेरी भानजी हॉस्टल में रहने के लिए आई। उम्र में पंद्रह साल छोटी। पति उसे वीकएंड पर घर ले आता। उसके साथ हंसी ठट्ठा करता। बच्चे के साथ तीनों खेलते। संदेह का कोई कारण नहीं था। बच्चा बीमार हुआ तो उसे तीन दिन अस्पताल रखना पड़ा। पत्नी बच्चे के पास अस्पताल में तीन दिन क्या रही, इधर पति का उस लड़की के सात रिश्ता बन गया। पत्नी के सामने ही उसके साथ सहवास करता। सहवास से पहले वह अपनी पत्नी के सारे कपड़े उतार कर रख देता। वह अपने छह महीने के बच्चे को संभाले रोती रहती। अपने माता-पिता से अपने पति का यह आचरण बांट नहीं सकती थी क्योंकि छोटी बहन की शादी की बात चल रही थी। अगर वह अपने छह महीने के बच्चे को लेकर मायके पहुंच जाती तो छोटी बहन की शादी में अड़चन आती। सबकुछ वह चुपचाप झेलती रही लेकिन एक बात वह समझ नहीं पाती कि उसके कपड़े क्यों उतार दिए जाते हैं। यह उसे बहुत बाद में समझ आया कि पति को यह डर था कि वह पीछे के दरवाजे से बाहर निकलकर पुलिस को न बुला जाए। निर्वस्त्र औरत बाहर नहीं जाएगी इसलिए उसके कपड़े उतारकर बच्चे के पास छोड़ दिया जाता। सेक्स की हवस पुरुष को निर्लज्ज ही नहीं, क्रूर, अमानवीय और हिंसक बना देती है।

छोटी बहन की शादी के बाद उसने हिम्मत जुटाई। एक दोपहर थाने में जाकर रपट लिखाई और रात को महिला पुलिस को घर में रखा जिसने उस आदमी को रंगे हाथों पकड़कर लॉकअप में डाल दिया। हैरानी हमें तब हुई जब तीसरे दिन वह अपने पति के लिए खाना बनाकर ले आई कि वह तीन दिन से न जाने कैसा खाना खा रहा है, उसे घर का खाना याद आता होगा। सारे अमानवीय, अनैतिक आचरण के बावजूद, इस तरह के भावात्मक लगाव से किसी भी औरत का निकल पाना बहुत आसान नहीं होता। अन्ततः उसने नौकरी की, पति से अलग रही और बच्चे को आज अच्छे स्कूल में पढ़ा रही है।

स्त्री को यूं ही धरती की संज्ञा नहीं दी जाती। वह न जाने कितने ऊबड़ खाबड़ पहाड़, खाई खंदक, अथाह समुद्र की लहरों के थपड़े, अपने सीने पर झेलती चलती है। मुंबई की एक ताराबाईनुमा चॉल में रहती यह कामगार मेहनतकश औरत हमारे पास मदद के लिए आई थी। अपने पति के लिए फाहश गालियों का इस्तेमाल करती। उसकी ज्यादातियों का बखान करती, अपने कपड़े खोलकर पति की बीड़ी-सिगरेट से जले हुए, अपने बदन पर पड़े कुछ रिसते, कुछ सूखे घाव दिखाती और ज़ार-जार रोती। आर्थिक रूप से वह आत्मनिर्भर थी चार पांच घरों में बर्तन और

झाड़ू पोंछा का काम करती, अपने बेवड़े मरद को भी पाल रही थी। बच्चा भी कोई था नहीं कि साथ रहने की मजबूरी होती। बार-बार हमारे समझाने के बाद भी जब उसने अपने दारूबाज पति को नहीं छोड़ा तो हम खीझ उठे कि अगर सलाह पर अमल ही नहीं करना है तो यहां आने की क्या जरूरत है! अब उसने बताना ही बंद कर दिया कि उस पर क्या बीत रही है। पति उसके लिए एक ऐसी आदत बन चुका था जिसके बिना निजात नहीं थी। शायद उसे यातना में सुख मिलने लगा था। ऐसी सहनशील धारित्री का आत्मपीड़क आनंद आखिर स्त्री को कहां ले जाएगा?

बस, यह एक ऐसी ही स्त्री की कहानी है जिसके लिए पति का कैसा भी व्यवहार एक आदत बन चुका है। 'यातना' भी अफीम-सा नशा देती है। हजारों औरतें इस तरह यातना में जीने को रोजमर्रा की रूटीन में स्वीकार कर चलती हैं। जब तक औरत स्वयं न चाहे, कोई स्वैच्छिक संस्था उसे हिंसा से छुटकारा नहीं दिला सकती। राहत पाने के लिए पहला कदम प्रताड़ित औरत को स्वयं उठाना पड़ता है।



तीसरी बेटी के नाम—ये ठंडे, सूखे, बेजान शब्द

सुनयना, आज तू होती तो अट्ठाइसवाँ वसंत देखती।

उस दिन भी तो मेरे कमरे के बाहर वसंत था, और अंदर.....ऐसे चेहरे जो वसंत को पतझर में बदल रहे थे। डरे, सहमे चेहरे...चेहरे, जिन पर मुर्दनगी छाई थी। तरस खाती आँखें, सिकुड़े हुए जिस्म.....जैसे वे मेरी तीसरी बेटी के जन्म पर नहीं, उसकी मातमपुर्सी पर आए हों।

और इन मुर्दा चेहरों से अनजान तू मेरी बगल में लेटी थी। रूई के फाहे-सा मुलायम, अपना खिला हुआ चेहरा लिए तूने अपनी मुँदी हुई आँखें खोली थीं और तू मुस्कराई थी। तेरी खूबसूरत, चमकती नीली आँखों पर, मैंने तेरा नाम लिखा था— सुनयना!

तभी बूढ़ी बुआ चहकती हुई दाखिल हुई थीं— 'कैसा गोरा-चिट्टा सलोना बच्चा! हाय, मेरी नजर न लगे!' बुआ ने तुझ पर से चादर हटाई और मुँह सिकोड़ लिया। लंबी साँसें खींच तेरी सिलवटों वाली त्वचा की जाँघों के बीच, हल्की-सी चपत लगाकर बुआ ने उस सिरजनहार को कोसा था, 'हाय मेरे रब्बा! इक्क होर

कुड़ी? बनाण वाले दे घर मिट्टी थुड़ गई सी?’ (एक और लड़की? तुझे बनाते समय मिट्टी कम पड़ गई थी?) मैं शर्मिदा हुई। पैदा होते ही तुझे नंगा किया जा रहा था। मैंने फ़ौरन उघाड़ी हुई चादर तुझ पर खींच दी थी। तुझे चादर उढ़ाकर तेरा आदर तुझे लौटा रही थी मैं।

‘बुआ, ऐसे मत बोल! यह मेरी बेटी भी है और बेटा भी! बेटा होता तो भी इतनी ही तकलीफ़ देकर, इतना ही खून बहाकर पैदा होता!’

‘बेटी तो बेटी ही रहती है, धिये, इसे बेटा बनाने की ज़रूरत न करना’ बुआ एक समझदार व्यंग्य भरी हँसी हँसकर चल दी थीं। और मैंने ठंडे, सख्त चेहरों से आँखें हटाकर तुझे अपने साये की ठंडी छाँव से ढक दिया था।

उस साये के तले तू हँसने लगी। तू खिलने लगी, तू खेलने लगी। तेरे नन्हे-नन्हे पाँव जमीन पर डगमग चले, थिरके, तेरे मुँह से बोल फूटे। तूने पहला शब्द बोला— माँ और तेरी माँ तेरे साथ चहकी। तूने बस्ता काँधे पर लादा, तूने तोतले बोलों में गाए गाने। और गानों पर हाथ-पाँव नचाते, आँखें मटकाते तू सात बरस की हो गई।

फिर एक दिन स्कूल से तू लौटी तो तेरे चेहरे पर दहशत थी। ‘माँ, बस के कंडक्टर ने मुझे यहाँ छोड़ा था और फिर हँसा था। मुझे उससे डर लगता है।’ उस छोटी-सी उम्र में ही मैंने तुझे लड़की को दी जाने वाली शिक्षा का पहला पाठ पढ़ाया।

और उस दिन के बाद से तू चौकस रहने लगी— हम उम्र लड़कों से परे परे चौकत्री-सी। तूने अपने में और उनमें फर्क करना सीखा।

तू और बड़ी हुई, समझदार भी! तू क्लास में अव्वल आई। स्कूल की रेस में शील्ड लाई। तेरा कमरा तेरे मेडल और ट्रॉफियों से भर गया। तूने अपनी हिफाजत खुद करना सीखा। आवाजों पर पीठ फेरना और भीड़ में कुहनियों का इस्तेमाल करना सीखा।

तू और बड़ी हुई। तू सपनों में खोने लगी, हवा में उड़ने लगी। तुझे अपने साथ पढ़ने वाला एक लड़का अच्छा लगने लगा था। तुम्हारे सपने एक थे, खुशियाँ एक पर तुम्हारे मजहब अलग थे। हम सबने तुझे घेरा। तुझे कभी आँसुओं का, कभी अपनी ममता का वास्ता दिया, ‘मजहब बहुत बड़ी दीवार है, समय रहते चेत जा!’ तू समझदार थी। अपने भीतर लहलुहान हुई मगर चेत गई। वक्त ने तेरे घावों पर

मरहम का काम किया। तूने चिंदी-चिंदी हुए अपने-आपको समेटा और अपने पैरों पर खड़ी हुई। बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ हासिल कीं। जो बेटा न करता, तूने कर दिखाया। बुलंदियों को छूने के दौरान तुझे अपने सपनों का एक और राजकुमार मिला। तेरी तरह वह भी बुलंदियों की, ऊँचाइयों की, चाँद सितारों की बातें करता था। उसके भी ऊँचे सपने थे। तेरी तरह वह भी एड़ियों पर उचक-उचक कर आसमान को छू लेना चाहता था।

अपनी बेटों-सी बेटी को सलम-सितारे वाली लाल साड़ी में लपेटकर हमने गीली आँखों से तुझे विदा किया-तेरे सपनों के राजकुमार के साथ।

यह तेरी जिंदगी का आखिरी हादसा था। तेरे गले में अपने नाम का मंगलसूत्र पहनाकर वह राजकुमार, राजकुमार नहीं रहा, तेरा पति हो गया।

तुझे सीढ़ी बनाकर वह ऊपर, और ऊपर उठता गया। वह फिर पीछे देखना नहीं चाहता था। तूने अपने हाथ क्यों बढाए उसकी ओर? वह आसमान की ओर बढ़ते तेरे हाथों को रसोई की बंद खिड़की के पास लाना चाहता था, जहाँ से एक टुकड़ा आसमान भी तुझे साफ न दिखे! क्यों नहीं मानी तूने उसकी बात? उसने तुझे तालों में बंद कर दिया। तुझे फिर भी दहशत नहीं हुई? तू उस तहखाने से निकलने के रास्ते ढूँढ़ने लगी। अपनी आवाज बंद दरवाज़े के बाहर पहुँचाने की ज़रूरत कर बैठी।

सजा तो तुझे मिलनी ही थी। अपने पति से ऊँचा उड़ने की सजा। अपने पति से बगावत करने की सजा। सपने को सच में बदलने के अरमानों की सजा। अपनी कोठरी से बाहर की दुनिया तक सुरंगें खोदने की सजा।

वह तुझ पर जुल्म ढाने लगा। बाहर की दुनिया से तेरे सारे सरोकारों को उसने रद्द कर दिया। तुझ पर पहरे बिठा दिए। अकेले कमरों में तेरा दम घुटने लगा। तूने एक दिन उस कैदखाने से हमेशा के लिए निजात पानी चाही और जहर को गले से नीचे उतार लिया पर तुझे जीना था। यह नियति थी या कुछ और...पर इस नई जिंदगी ने तुझमें जीने का, लड़ने का नया हौसला भरा। तूने अपने पैरों के नीचे की जमीन को पहचाना। इस पर तुझे चलकर दिखाना है और अपने हिस्से का आसमान मुट्ठियों में बंद करना है, यह तूने ठान लिया था। अब उसके पास कोई रास्ता नहीं बचा था। इससे पहले कि तेरे हाथ आसमान की बुलंदियों तक पहुँचे, उसने तेरे उड़ते पंखों को कतर डाला। सितारों को छूने के लिए बढ़ते तेरे हाथों को काटकर झोंक दिया भट्टी की जलती आग में। जितनी तेजी से उस आग की लपटें फैली थीं, उतनी ही तेजी से ठंडी भी हो गई।

‘हर ऐंबिशंस लेड टु हर डेथ!’ तीसरे दिन अखबार में सुर्खियाँ थीं कि तेरा पति तेरे पहले प्रेमी को बर्दाश्त न कर सका, इसलिए गुस्से में अंधा होकर उसने तेरे चिथड़े कर डाले। इसके साथ ही तेरे लिए हिलोरें लेतीं हमदर्दी की लहरें शांत हो गईं। सबने कहा, तू अपनी मौत का कारण खुद थी, सुनयना! क्यों तूने पंख फैलाकर आसमान की थाह लेनी चाही थी? घर की चौहद्दी से छिटक-छिटक जाती थी तू? क्यों इतने विकल्प थे तेरे पास पति की दुनिया से अलग भी? तेरा पति तो मात्र निमित्त था। तूने खुद अपना अंत किया। तेरी यह सजा तो सदियों पहले से तय की जा चुकी थी। इसे बदला कैसे जा सकता था भला? फिर भी बार-बार किया गया तेरा पोस्टमार्टम.....तेरे जलने से बच गए भूरे बालों का किया गया मिलान तेरी तस्वीर से.....केमिकल्स के बीच महीने-भर सुरक्षित रखी गई तेरी लाश.....तेरे कटे हुए अधजले अंग..आज चिता पर चढ़ने जा रहे हैं अपने पति के ज़िंदा रहने के साज-सिंंगार से लैस होकर !

सलमें-सितारों वाली लाल साड़ी के कफ़न में लिपटी सुहागन सुनयना। क्या रखूँ तेरी चिता पर? सिवाय इन ठंडे, सूखे, बेजान शब्दों के....जो तेरे किसी काम के नहीं! शब्द, सिर्फ़ शब्द— इस देश का कानून नहीं बदल सकते! न वे बन सकते हैं फाँसी का फंदा, जो तेरे हत्यारे के गले में डाला जा सके!

सफ़ेद कागज़ पर लिखे ये काले अक्षर रखती हूँ तेरी चिता पर! ये सूखे पत्तों की तरह तेरी चिता की आग को हवा देंगे और बुझ जाएँगे उन चिनगारियों की तरह, जो राख में से उठती हैं! तेरे साथ ही विलीन हो जाएँगे ये अक्षर, ये शब्द! हवा से हवा, अग्नि से अग्नि, जल से जल, आकाश से आकाश, मिट्टी से मिट्टी! सब धुँआँ हो जाएगा। बस, रह जाएगी एक मुट्ठी राख!

पर सुन मेरी बच्ची! अपनी कटी हुई हथेलियाँ न फैलाना उस बनाने वाले के सामने कि पिछली बार तुझे बनाते समय जो भूल की थी, उसे सुधार ले! नहीं! तुझे तो फिर फिर वही बनना है! फिर फिर औरत! सौ जनमों तक औरत! तब तक औरत, जब तक तेरे हिस्से का आसमान, तेरे और सिर्फ़ तेरे नाम न कर दिया जाए!



एक माँ का आशीर्वचन – तुझे तो फिर फिर बनना है औरत

‘तीसरी बेटी के नाम : ये ठंडे, सूखे, बेजान शब्द’ दरअसल कहानी की तरह लिखी ही नहीं गई। कहानी ‘अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी’ और उर्मिला पवार की कहानी ‘न्याय’ से हमने मुंबई के वकोला स्थित वीमेन्स सेंटर में अशिक्षित महिलाओं के बीच कथा वाचन की एक कार्यशाला की शुरुआत की थी। यह कहानी एक लंबी कविता के फॉर्म में सुनाने के इरादे से ही लिखी गयी थी पर मुंबई की एक चर्चित लघु पत्रिका ‘कथाबिंब’ में मेरे आत्मकथ्य के साथ चूँकि संपादक को अप्रकाशित कहानी चाहिए थी सो मैंने इसे कविता से हटाकर कहानी के रूप में प्रकाशित करवा दिया।

इस कहानी के माध्यम से मैं महिलाओं को नयना साहनी के तंदूर कांड और इंडियाज़ मोस्ट वॉन्टेड की अंजू सिंह की (तथाकथित) आत्महत्या के बारे में जानकारी देना चाहती थी, क्योंकि अखबारों और न्यूज चैनलों पर एक अलग ही तस्वीर प्रस्तुत की जा रही थी। लड़की के चरित्र को कटघरे में खड़ा कर उसपर लांछन लगाना सबसे आसान काम है। मीडिया इसमें पूरा सहयोग देता है, क्योंकि मीडिया को सनसनीखेज बिकाऊ खबर चाहिए और लड़की के शीलभंग, बलात्कार, चरित्र से ज्यादा बिकाऊ भला क्या होगा? सन् 2008 में आरुषि हत्याकांड में तेरह

चौदह साल की स्कूली छात्रा आरुषि को भी बख्शा नहीं गया।

कई बार समाज में ऐसी घटनाएं घटित होती हैं जो आपके निजी जीवन से संबंधित न होने के बावजूद आपको भीतर तक दहला देती हैं। अखबारों में अक्सर ऐसी दुर्घटनाएं आपकी नजरों के सामने से गुजरती हैं जिन्हें पढ़कर आप बौखला उठते हैं पर चूंकि वह आपके दायरे या सीमा से बाहर होती हैं, इसलिए आपके पास अपनी नाराज़गी को निगल लेने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता। यह देखना भी दुखद होता है कि ऐसी घटनाएं अखबार के पहले पन्नों से हटकर कैसे धीरे-धीरे अन्दर के पन्नों में सरक जाती हैं, उसका फैलाव भी सिमटता जाता है और फिर वह खबर बासी होकर हमारे जेहन से उतर जाती है। डेढ़ दशक पहले एक राजनीतिक दल के युवा नेता सुशील शर्मा ने अपनी पत्नी नयना साहनी की हत्या कर उसकी लाश को अपने करीबी मित्र के होटल के जलते तंदूर में झोंककर सारे सबूत मिटाने की कोशिश की थी, लेकिन वह पकड़ा गया। उन दिनों यह तंदूर कांड सुर्खियों में था। तभी मैंने डायरी में कुछ पैराग्राफ लिखकर अपनी नाराज़गी को एक आउटलेट देने की कोशिश की थी।

कुछेक साल बाद लगभग ऐसी ही एक और घटना हुई। अपने पति के सामने अंजू सिंह (इल्यासी) ने अपने पेट में चाकू घोंपकर आत्महत्या कर ली थी। दोनों घटनाओं में कुछ समानताएं थीं। दोनों औरतें खूबसूरत, ज़हीन और केरियरिस्ट थीं। दोनों के पतियों ने उनकी बुद्धिमता को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल किया। 'इंडियाज़ मोस्ट वॉन्टेड' की परिकल्पना अंजू की थी। अंजू और सोहैब दोनों ने मिलकर इसे एक रूप दिया। 'इंडियाज़ मोस्ट वॉन्टेड' कार्यक्रम का पायलट जब स्वीकृति के लिए जमा किया गया तो उसमें संचालन अंजू सिंह का था लेकिन जब कार्यक्रम शुरु हुआ तो परदे पर सोहैब छाए थे। कार्यक्रम की टी.आर.पी. रेटिंग बढ़ने और एंकर के बुलंदियों तक पहुंचने के बीच किस तरह अंजू परदे के पीछे धकेली जाती रही और गुमनामी के इस अंधेरे में धकेले जाने से उसे कितनी घुटन महसूस होती होगी, यह किसी ने जानने की कोशिश नहीं की क्योंकि अन्ततः यह आत्महत्या का मामला था और आत्महत्या की ओर धकेले जाने की जिम्मेदारी कानूनन किसी पर नहीं डाली जा सकती, सेलिब्रिटी पर तो और भी नहीं। अपनी पत्नी की 'हाराकरी' के सिलसिले में सोहैब जिस तरह प्रभुताशाली नेता के अंदाज में अदालत के बाहर खड़ी जनता को, मुकदमा जीत कर लौटने के विजय चिह्न के रूप में, अंगूठा ऊपर उठाकर, दिखाते हुए जा रहे थे, उसे देखकर मेरा खून खौल गया। उसके चेहरे पर न शर्मिन्दगी थी, न अपराधबोध के निशान। अगर कुछ था तो सफल होने का दर्प। सोहैब इल्यासी को

भी आखिर जमानत पर रिहा कर दिया गया।

अंजू की माँ और बहन भी इस लड़ाई में थोड़ी दूर तक ही शामिल हुए, फिर थक कर बैठ गए— यह सोचकर कि उनकी लड़ाई मृत अंजू को तो वापस ला नहीं पाएगी। इस तरह हजारों घटनाएं समय की चादर के नीचे एहतियात से दफन कर दी जाती हैं। न कोई सवाल उठाया जाता है, न कोई आपत्ति दर्ज होती है। नयना साहनी कांड में अंजू सोहैब इल्यासी कांड जुड़ गया और तब मैंने इसे फिर से लिखा।

आज के समय में जब लड़कियां भी अपनी शिक्षा, अपने केरियर को महत्व देने लगी हैं, सामंती संस्कारों वाले उनके पति उनकी प्रतिभा को कुचलकर किस तरह पीछे धकेलने में जी जान से जुट जाते हैं, इसे एक लड़की और उसे जन्म देने वाली माँ से ज्यादा कौन समझ सकता है? यह एक ऐसा दर्द है, जिसे माँ से ज्यादा और कोई महसूस नहीं कर सकता। पर अपनी तीसरी बेटे को चिता की आग देते हुए भी उसका हौसला पस्त नहीं होता और वह यही असीसती है कि तुझे तो फिर फिर बनना है औरत...

एक युवा कवयित्री रंजना जायसवाल की कुछ पंक्तियां हैं—

तुम जो वर्तमान से नहीं जीत पाते,
खंगालने लगते हो अतीत।
प्रतिभा से पराजित,
पहुंच जाते हो चरित्र तक।
तुम्हारे तरकश में बहुत सारे
जहरीले तीर हैं।
और साथ है समाज का।
मुझे पत्थर मरवा सकते हो
चुनवा सकते हो दीवार में।
फिर भी रहेगा इत्मीनान,
कि मैं सच्चाई हूँ,
नकारा है तुम्हारी झूठी सत्ता को,
मैं औरत हूँ।



बड़ी हत्या, छोटी हत्या

माँ की कोख से बाहर आते ही, जैसे ही नवजात बच्चे के रोने की आवाज आई, सास ने दाई का मुँह देखा और एक ओर को सिर हिलाया, जैसे पूछती हो—‘क्या हुआ? खबर अच्छी या बुरी।’

दाई ने सिर झुका लिया- ‘छोरी।’

अब दाई ने सिर को हल्का-सा झटका दे आँख के इशारे से पूछा- ‘क्या करूँ?’

सास ने चिलम सरकाई और बँधी मुट्ठी के अँगूठे को नीचे झटके से फेंककर मुट्ठी खोलकर हथेली से बुहारने का इशारा कर दिया- ‘दाब दे!’

दाई फिर भी खड़ी रही। हिली नहीं।

सास ने दबी लेकिन तीखी आवाज में कहा- ‘सुण्यो कोनी?’

दाई ने मायूसी दिखाई- ‘भोर से दो को साफ़ कर आई, ये तीज्जी है, पाप लाग-सी।’

सास की आँख में अंगारे कौंधे- ‘जैसा बोला कर। बीस बरस पाल-पोस के आधा घर बाँध के देवेंगे, फिर भी सासरे दौण दहेज में सौ नुक्स निकालेंगे और आधा

टिन मिट्टी का तेल डाल के फूँक आएँगे। उस मोठे जंजाल से यो छोटा गुनाह भलो।’

दाई बेमन से भीतर चल दी। कुछ पलों बाद बच्चे के रोने का स्वर बंद हो गया।

बाहर निकलकर दाई जाते-जाते बोली- ‘बीनणी पो बोल आई, मरी छोरी जणमी! बीनणी ने सुण्यो तो गहरी मोठी थकी साँस ले के चदर ताण ली।’ सास के हाथ से दाई ने नोट लेकर मुट्ठी में दाबे और टेंट में खोंसते नोटों का हल्का वजन मापते बोली- ‘बस्स?’

सास ने माथे की त्यौरियाँ सीधी कर कहा- ‘तेरे भाग में आधे दिन में तीन छोरियों को तारने का जोग लिख्यो था तो इसमें मेरा क्या दोष?’ सास ने उंगली आसमान की ओर उठाकर कहा- ‘सिरजनहार पो पूछ। छोरे गढ़ाई का साँचा कहीं रख के भूल गया क्या?’ और पानदान खोलकर मुँह में पान की गिलौरी गाल के एक कोने में दबा ली।



कन्या भ्रूण हत्या के कारण कहां छिपे हैं?

“आपके कितने बच्चे हैं?” रेलगाड़ी की यात्रा करते समय एक महिला ने मुझसे पूछा।

“मेरी दो बेटियां हैं।” मैंने गर्व से उत्तर दिया।

“बच्चे कितने हैं?” महिला ने सवाल को सपाट लहज़े में दुहरा दिया।

मुझे लगा, वह कान से थोड़ा ऊंचा सुनती है।

मुस्कराकर ऊंचे स्वर में मैंने कहा- “दो बेटियां हैं मेरी।”

“और बच्चा कोई नहीं?”

मैं मुंह बाये देखती रही।

“और टाबरो कोनी?” उसने तरस खाती निगाहों से मेरी ओर देखा।

अब मुझे समझ में आया कि बच्चे से उसका मतलब बेटे से था। इसके बाद दो-तीन बार और लगभग ऐसे ही संवाद अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग माहौल में दोहराए गए।

मुंबई में एक कन्नड़भाषी औरत मेरे घर पर काम करने के लिए आई।

जानकारी के तहत मैंने उससे पूछा- “तुम्हारे कितने बच्चे हैं?”

बोली- “बच्चा नहीं है।”

उसकी सिंदूर से लबालब भरी मांग और उसकी चालीस के आसपास जाती उम्र भांपकर पूछना चाहा कि शादी को कितने साल हो गए कि मेरे पूछने से पहले ही छूटे हुए वाक्य का सिरा पकड़ाते हुए बोली- ‘तीन लड़की है मेरे को, बच्चा कोई नहीं।’ मैंने फौरन कहा- ‘लड़कियां क्या बच्चा नहीं है। ऐसे नहीं कहना चाहिए।’ उसने कहा- ‘बच्चा मतलब लड़का ही होता है। लड़की नहीं।’ आगे उसका संवाद जारी रहा- ‘तीन लड़की प्यदा हुआ तो आदमी बहुत गुस्सा किया मेरे कू।’ बोला- ‘लड़की माने कितना खर्चा करना पड़ता सादी पर। दो का सादी बनाया। बड़ा बेटा को एक लड़का, एक लड़की। छोटा को एक लड़का। दोनों को बच्चा है। एक छोटा लड़की का सादी करना बाकी।’

बेटियों से वंश नहीं बढ़ता, बेटियां पराया धन है, बेटियों को दान-दहेज देना पड़ता है, बेटियां गले में पड़ा पत्थर हैं इसलिए राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश से लेकर कर्नाटक और आंध्रप्रदेश के कई कस्बों में थी। औरतों के लिए बेटियों का होना बच्चे होने में शुमार नहीं होता।

बेटा और बेटा के जन्म को भारतीय व्यापारी वर्ग तो नफा-नुकसान के अर्थ में देखता ही है, मध्यवर्गीय परिवार भी अपनी संतान में लड़के का शुमार हुए बिना परिवार को पूरा नहीं मानता। इसलिए एक परिवार में चार या पांच बेटों का होना तो स्वीकार्य होता है पर एक के बाद दूसरी बेटा का स्वागत नहीं किया जाता।

आज स्थिति यह है कि बेटियों को पैदा होने ही नहीं दिया जाता। कई गांवों में तो यह शान से कहा जाता है कि हमारे गांव में बरात आती नहीं, जाती है। वहां बेटा के पैदा होते ही कहीं उसके मुंह में नमक ठूंसकर तो कहीं उसकी नाल से ही गला घोंटकर, कहीं कीटनाशक दवा पिलाकर तो कहीं टब में भरे पानी में डुबाकर, कहीं गले में मटका बांधकर नदी में बहा कर तो कहीं ठंड के दिनों में बाहर खुले में छोड़कर, कहीं कूड़ेदान में फेंककर तो कहीं स्तन में जहर लगाकर दूध पिलाकर उन्हें पैदा होते ही मौत की नींद सुला दिया गया है।

भारतीय समाज में सदियों से “दूधो नहाओ, पूतो फलो” या “पुत्रवती भव” जैसे आशीर्वचन और पुत्र प्राप्ति और पुत्रों के स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए किए गए व्रत-अनुष्ठान भी परिवार में पुत्र की वरीयता को ही प्रतिष्ठापित करते हैं। अस्सी के

दशक में सोनोग्राफी का इस्तेमाल जब गर्भवती महिलाओं को उपलब्ध करवाया गया तो इसका उद्देश्य गर्भ में पल रहे भ्रूण का समुचित विकास देखना, उसकी सेहत और स्थिति की सही जांच (मॉनिटरिंग) करना था ताकि शिशु के जन्म के समय प्रसूति के दौरान महिला की सही देखभाल हो सके पर इस गर्भ निरीक्षक यंत्र का उपयोग गर्भ निर्धारण और अनचाहे भ्रूण को अपदस्थ करने के लिए किया जाने लगा। महाराष्ट्र सरकार ने 1987 में कन्या भ्रूण हत्या पर रोक लगाने के लिए गर्भ परीक्षण कानून पारित किया था— जब गाजियाबाद और लुधियाना के डॉक्टरों के घर के सामने बने कुंओं से सैकड़ों कन्या भ्रूण निकाले गए थे।

इसका कारण समाज में लड़कियों को लड़कों के बरक्स छोटा करके देखा जाना है। एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार में शादी के समय लड़की को दिया जाने वाला दहेज औसत आय वाले पिता के गले की फांस बनकर रह जाता है। समृद्ध पिता की संपत्ति में भी भाई अपनी बहन को पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा देना नहीं चाहते। दहेज के चलते अनगिनत लड़कियों को जलाकर मार डाला जाता है। लड़की के ससुराल में उससे जैसा सुलूक किया जाता है, उसे देखते हुए बहुत से दंपति बेटी पैदा ही नहीं करना चाहते।

आज स्थितियां बदली हैं। लड़कियों को अगर पढ़ने का सही मौका और अनुकूल वातावरण दिया जाए तो वे लड़कों से कहीं ज्यादा ज़हीन और जिम्मेदार साबित होती हैं। जो गर्भ में लड़की देखकर भ्रूण हत्या करवा लेते हैं और उन्हें दुनिया में आने ही नहीं देते— यह सोचकर कि वह उन्हें बड़ी हत्या से बचाने के लिए की गई छोटी हत्या है, उन्हें नहीं मालूम कि वे क्या खो रहे हैं, कि बेटियां कितनी बड़ी नियामत हैं। ज़हीन और नायाब बेटियां सिर्फ खुशकिस्मत मां-बाप को ही नसीब होती है। क्या बेटों और बेटियों के अभिभावक यह नहीं जानते कि बेटियां अपने मां-बाप के प्रति कितना गहरा सरोकार रखती हैं और उनकी किसी भी तकलीफ में कैसे आगे बढ़कर उनका हाथ थामती हैं, कि बुढ़ापे में लाठी बनने वाली ज्यादातर बेटियां ही होती हैं, कि बेटों के मुकाबले किसी भी तरह बेटियां कम जिम्मेदार नहीं होतीं।



खंड-दो मानसिक प्रताड़ना के खिलाफ

जिसके निशान नहीं दिखते यानी मानसिक प्रताड़ना के खिलाफ

उम्र- बासठ वर्ष। एक सामान्य गृहिणी। नाम - तृषा।
वैसे नाम से क्या फर्क पड़ता है। फर्क इस बात से जरूर पड़ता
है कि मैं संगीत विशारद हूँ। शादी से पहले मैं अपने शहर के
एक प्रतिष्ठित कॉलेज में संगीत शिक्षक थी। पर शादी के बाद
चार साल में दो बच्चे हुए, और बच्चों को आया के सुपुर्द न
कर, उनकी खुद परवरिश के लिए मैंने नौकरी छोड़ दी। पति
भी यही चाहते थे। मैं स्टेज सिंगर से बाथरूम सिंगर बन कर
रह गई।

मेरे पति हमेशा बिना किसी कारण, बिना किसी मुद्दे
के हर वक्त मुझ पर गरजते- बरसते रहते। कई बार मेरी
आँखों में आँसू आ जाते। एक दिन जब मैं उनके दफ़्तर जाने
के बाद एक कोने में बैठी सुबक रही थी, मेरे बेटे ने कहा- “माँ
आप क्यों रो रही हैं? पापा आपको मारते तो नहीं हैं न!” मैं

सत्र! आठ साल का बच्चा अपने पापा की चीख चिल्लाहट को जायज ठहरा रहा था, सिर्फ इसलिए कि वह हाथ नहीं उठाते। बाद में पता चला कि उसके सबसे गहरे दोस्त के पिता अक्सर अपनी पत्नी को हमेशा पीटते थे। इसलिए उसके पापा अगर सिर्फ चिल्लाते हैं, हाथ नहीं उठाते तो कोई बात नहीं।

मुझे हाई बी.पी. (उच्च रक्तचाप) थायरॉयड और पेट में अल्सर रहने लगे। मुझे लग रहा था— मेरे भीतर धीरे-धीरे कुछ मर रहा है। 45 साल की उम्र में मुझमें गाने की इच्छा जोर पकड़ने लगी। मैंने तानपूरा की तारें बदलवाईं और रियाज़ करना शुरू कर दिया। एक दिन, गुस्से में आकर मेरे पति ने मेरा तानपूरा तोड़ दिया— चिल्लाकर बोले— यह क्या खटराग अलाप रही हो। मेरे जिन रागों पर मुग्ध होकर उन्होंने मुझसे शादी की थी, वह उन्हें अब खटराग लग रहे थे।

अब पिछले तीन साल से मैं अकेली हूँ, खुश हूँ और अपने संगीत के साथ हूँ जिसे मैंने घर संवारने — सहेजने और बच्चों को बड़ा करने की यात्रा में खो दिया था। मेरे दोनों बेटे मुझे अपनी पहचान फिर से कायम करने में पूरी तरह सहयोग दे रहे हैं। मैं घर में लड़कियों को संगीत की शिक्षा देती हूँ। काश! मैंने पहले ही अपने अस्तित्व की पहचान की होती पर 'देर आयद, दुरुस्त आयद!'

घरेलू मध्यवर्गीय महिलाओं के लिए आयोजित एक कार्यशाला में— मैंने 1995 में लिखा एक परचा पढ़ा था जिसका शीर्षक था— “आक्रामकता के खिलाफ : एक आम औरत की आवाज।” परचा समाप्त होने पर उस पर चर्चा शुरू हुई तो एक महिला ने कहा कि आप अपने परचे का वह पैराग्राफ फिर से पढ़िए जिसमें सूक्ष्म प्रताड़ना की बात कही गई है। वह पैराग्राफ यह था—

“हिंसा का एक बेहद सूक्ष्म प्रकार है, जिसे मानसिक प्रताड़ना कहा जा सकता है। एक पुरुष पति कुछेक बरस साथ रहने के बाद यह सूंघ लेता है कि वह किस 'जाति' या 'किस्म' की औरत के साथ है। वह जानता है कि अपनी पत्नी को

सजा देने का सबसे बेहतरीन तरीका या नुस्खा क्या है। उसे कितने नुकीले या कितने भोथरे औजार किस तरह से इस्तेमाल करने हैं। वह जानता है कि अपनी पत्नी पर शारीरिक बल का इस्तेमाल कर या उसे चांटा मारकर वह उतनी तकलीफ नहीं पहुंचा सकता, जितनी उसकी उपेक्षा या अवहेलना कर। वह अपनी संभ्रान्तता का मुखौटा 'इन्टैक्ट' रखकर एक साधुनुमा तटस्थता अपना लेता है। वह अपने ही घर में इस तरह रहता है, जैसे उस घर में बच्चे हैं, बुजुर्ग हैं, नौकर-चाकर हैं, आने-जानेवाले मेहमान हैं, नहीं है तो सिर्फ उसकी पत्नी। पत्नी की 'उपस्थिति' या उसके 'अस्तित्व' को पूरी तरह योजनाबद्ध तरीके से नकारता हुआ वह अपनी पत्नी को अवहेलना के धीमे ज़हर से खत्म करना चाहता है। 'संवादहीनता' की स्थिति से पैदा हुई इस - 'स्लो डेथ' को जब तक पत्नी पहचानने की कोशिश करती है, वह भीतर से पूरी तरह टूट चुकी होती है। बहरहाल, बाहर से देखने पर यह एक हद तक आकारहीन स्थिति लग सकती है और इसे वही औरतें खूबी समझ सकती हैं जिन्होंने इस 'धीमी मौत' को अपने भीतर घटते हुए देखा है, पहचाना है।”

(धर्मयुग : 1995/मूलप्रश्न : 1996/ हमारा प्रतिवाद : 2005)

महिला संगठनों में कार्यालय में होने वाली यौन हिंसा (सेक्सुअल वायलेंस) का जिक्र होता है। घरेलू हिंसा में शारीरिक, लैंगिक, आर्थिक, शब्दिक हिंसा तथा वैवाहिक बलात्कार (मैरिटल रेप) आदि सभी का जायजा लिया जाता है। जब कोई महिला शादी के चार-पांच साल से लेकर दस-पन्द्रह साल तक हिंसक पति द्वारा अपने शरीर पर मारपीट, अत्याचार झेलती है तो शुरु-शुरु में वह बाथरूम के नल से चोट लगी या बाथरूम में फिसल गई या मेज का कोना लग गया जैसे झूठे बहाने बनाती है, क्योंकि सामाजिक प्रतिष्ठा के परम्परागत ढांचे के तहत उसे लगता है, यह उसके पति का नहीं उसका अपना अपमान है, पर पचास-पचपन की उम्र में देर सबेर ऐसी स्थिति आ ही जाती है, जब उसका शरीर और बर्दाश्त करने से इंकार कर देता है। इस बारे में कैसे अपनी सुरक्षा की जाए या इससे उबरने के कौन से तरीके अपनाए जाएं, सलाहकार केंद्रों में इसकी अक्सर पड़ताल की जाती है।

इन सलाहकार केंद्रों में मानसिक हिंसा को रेखांकित नहीं किया जाता, क्योंकि बाकी सभी यातना के बहुत स्थूल प्रकार हैं और उन्हें पहचानना आसान है। पन्द्रह सालों की काउंसिलिंग के दौरान हमारे संगठन में मानसिक प्रताड़ना का एक भी मामला दर्ज नहीं हुआ। जबकि एक औरत के लिए ज्यादा तकलीफदेह, लाइलाज और असमंजस वाली स्थिति मानसिक प्रताड़ना है, जिसका जिक्र तक नहीं किया

जाता। शरीर पर लाल-नीले निशान या होठों पर या आँखों के नीचे कटा हुआ घाव तो किसी मलहम या दवा से आखिर ठीक हो ही जाता है, पर शाब्दिक तिरस्कार, उलाहने, व्यंग्यबाण चलाकर या संवादहीनता और निरंतर उपेक्षा से की गई चोट जैसा घाव मन पर बनाती है, वह शरीर पर हुए घाव से ज्यादा गहरा होता है। इस अदृश्य चोट को भरने में कहीं ज्यादा वक्त लग जाता है।

अपने साथी की निर्मम चुप्पी और सायास संवादहीनता भी हिंसा का ही एक प्रकार है और चूँकि शरीर पर इसके निशान दिखाई भी नहीं देते, इसलिए यह भीतर ही भीतर देह को अमूर्त बीमारियों से लैस कर देती है। पति की मारक चुप्पी या शाब्दिक चीख चिल्लाहट हमें शिकायत करने के लिए पर्याप्त कारण नहीं लगते। ऐसी अमूर्त तकलीफें हमारे सरोकार का मुद्दा इसलिए नहीं बनतीं, क्योंकि मानसिक यातना की शिकार औरत जब खुद ही मरते दम तक इसकी शिनाख्त नहीं कर पाती तो उसके बिना कहे कोई दूसरा व्यक्ति उसके मन के भीतर चलते ऊहापोह को कैसे पहचान सकता है।

जहाँ शारीरिक हिंसा निम्न और निम्न मध्यवर्ग की औरतों की समस्या है, मानसिक यातना उच्च मध्यवर्ग और सुसंस्कृत अभिजात्य शालीन दिखने वाले प्रगतिशील वर्ग का हथियार है। निम्न और निम्न मध्यवर्ग का पुरुष इतना शांति और समझदार नहीं होता। वह गुस्सा आते ही आगा पीछा नहीं देखता और झट से हाथ उठा कर हिंसक हो जाता है। इस हिंसा के निशान शरीर पर दिखते हैं, इसलिए इसे लेकर निर्णय लेना आसान हो जाता है।

यह नामालूम और सूक्ष्म किस्म की मानसिक प्रताड़ना आमतौर पर आर्थिक रूप से सम्पन्न, सभ्रान्त, अभिजात्य पुरुष या फिर सामाजिक फलक पर प्रतिष्ठाप्राप्त बुद्धिजीवी पुरुष देते हैं।

सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और परिवेशगत कारण

भारतीय समाज में बेटों को शुरू से ही बेटियों की अपेक्षा ऊँचा दर्जा दिया गया है। विरासत में ऐसे संस्कार और ऐसा वर्चस्ववादी दृष्टिकोण लेकर जब वह

कार्यक्षेत्र में उतरता है तो कई बार उसे अपने मन मुताबिक रुतबा नहीं मिलता। वह जिस शासन और नियंत्रण की स्थिति में स्वयं को देखना चाहता है, कार्यक्षेत्र में उसे न पाकर उसकी भरपाई वह घर के कार्यकलाप पर अपने शासन से करता है।

इसके ठीक विपरीत एक दूसरी स्थिति भी संभव है— जब वह अपने कार्यक्षेत्र में एक अफसरी ओहदे पर अपने को प्रतिष्ठापित कर लेता है और खास किस्म की जी हुजूरी और चापलूसी का अभ्यस्त हो जाता है। घर लौटने के बाद भी कुर्सी का वह प्रभामंडल उसका पीछा नहीं छोड़ता और अपनी पत्नी को भी वह अपने नीचे काम करने वाले एक मातहत की तरह दुत्कारता चलता है। चूँकि वह घर के लिए अर्थ कमा कर लाता है, इसलिए इसे वह अपना हक मानने के साथ-साथ यह भी समझने लगता है कि उसकी पत्नी, वह अनपढ़ गंवार हो या पढ़ी-लिखी कामकाजी, ऐसा ही सुलूक डिजर्व करती है। उसे अपने व्यवहार में कहीं कोई गड़बड़ी, कोई अस्वाभाविकता महसूस नहीं होती। अपनी महानता से आक्रांत यह सम्पन्न, सभ्रान्त पुरुष जीवन भर अपनी पत्नी को अपने कर्णभेदी शब्द बाणों से या संवादहीनता की उपेक्षा से बेधता है और उसके व्यक्तित्व की किरचें बिखेर कर एक त्रासजन्य आनंद (सैडिस्टिक प्लेजर) पाता है।

अपवाद हर जगह हो सकते हैं, पर अमूमन होता यह है कि तकनीकी या प्रबंधन की उच्च शिक्षाप्राप्त, अभिजात्य घरों से आए इस श्रेणी के लड़के किसी इज्जतदार, प्रतिष्ठित घराने की जहीन, देखने में आकर्षक, कलाकार लड़की से सगर्व शादी करना चाहते हैं पर सारी मशक्कत सिर्फ उसे हासिल करने तक ही सीमित होकर रह जाती है। एक बार वह लड़की 'घर की मुर्गी' बन गई तो उसकी कीमत 'दाल बराबर' भी नहीं रह जाती, बल्कि यह समझदार ऊँचे रुतबे का पति, शादी का शुरुआती जज्बा ठंडा होते ही, अपनी पत्नी की कलात्मक अभिरुचि और सृजनात्मकता को न पहचान कर, शांति तरीके से उसकी नफ़ासत और रचनात्मकता को तहस नहस कर उसका मुख्य स्पेस रसोई घर को बना देता है। एक बार पत्नी 'खास' प्रतिभावान कलाकार से 'आम' व्यक्तित्व विहीन गृहिणी बन गई तो उसे यह भी सलीके से जता दिया जाता है कि उससे शादी कर उसके अफसर पति ने उस पर एहसान किया है। इसके बाद उस 'आम' व्यक्तित्व विहीन औरत से एक असंपृक्त रिश्ता कायम रख धीमी मौत की ओर उसे धकेला जाता है। भारतीय समाज में सैकड़ों महिला कलाकारों के उदाहरण हैं जिनके पतियों ने उनकी

कला पर रीझकर उनसे शादी का प्रस्ताव रखा और शादी के बाद उनकी कला से ही उन्हें परहेज होने लगा। विख्यात नर्तकी सोनल मानसिंह, दमयंती जोशी जैसी कई महिला कलाकार हैं, जो अन्ततः अपनी कला के प्रति समर्पण और सरोकार के लिए विवाह बंधन से बाहर निकल आईं।

आम तौर पर ये दम्पति बाहर से बेहद सुखी और संतुष्ट दिखाई देते हैं, क्योंकि न सिर्फ हिन्दुस्तान बल्कि विदेशों की भी अपेक्षाकृत परंपरागत (कंजरवेटिव) संस्कार लेकर आनेवाली पत्नियाँ धीरे-धीरे हर तरह के माहौल की अभ्यस्त होकर जीना सीख जाती हैं। एक औरत इस अनुकूलन (कंडीशनिंग) की आदी हो जाती है और जब तब घर के नौकरों – काम करने वालों के सामने— भी जब डांट डपट कर उसके आत्मविश्वास को खंडित कर उसे जलील किया जाता है तो भी वह घर में अपनी इस उपेक्षित और दोयम स्थिति को न तो कोई नाम दे पाती है, न इसे यातना का एक प्रकार समझने में समर्थ हो पाती है। वह मुँह खोलने में काँपती है, बात करने में हकलाती है और स्टेज पर जाकर माइक थामते ही एक कलाकार पत्नी के भी हाथ पैर ठंडे होने लगते हैं।

पुरुष के कार्यक्षेत्र का बड़ा स्पेस और औरत की रसोई—

तालमेल बिठाकर रहना ही एकमात्र विकल्प है, इसलिए वह अपनी इस बारीक अनचीन्हीं तकलीफ का सामना करने से कतराती है, उसे बाहर आने से रोकती है और चूँकि पढ़ी-लिखी और समझदार है, इसलिए इससे अपने तई जूझती है और अपने भीतर ही इससे मुठभेड़ कर इसे 'ठीक' कर लेना चाहती है और फिर भी अगर सुलझा न पाए तो अपने पति के सामने 'जो हुक्म मेरे आका' वाला रवैया अपना लेती है, क्योंकि उसे लगता है कि पति हर बार सही होता है और वह गलत। पति के कार्यक्षेत्र का बड़ा स्पेस उसे आतंकित करता है और अपने छोटे से घर की छोटी-सी रसोई उसके व्यक्तित्व को भी उतना ही छोटा बनाने में कामयाब हो जाती है। जब स्वयं औरत ही अपनी स्थिति से वाकिफ़ नहीं हो पाती तो वह इस अमूर्त-सी दिखने वाली तकलीफ का कैसे और किसके सामने बयान करे।

ऐसे पति के साथ एक लंबा समय बिताते हुए न सिर्फ वह इस उपेक्षा की आदी हो जाती है और उसका आत्मविश्वास तहस नहस हो जाता है, बल्कि वह

अपने भीतर यह मानने लग जाती है कि उसमें निश्चित रूप से किसी ऐसे गुण की कमी है, जिसकी वजह से अपने पति की अपेक्षाओं पर वह खरी नहीं उतर पाती। अपने में कमी के इसी स्वीकार के चलते कई बार औरतें अपने पति के विवाहेतर सम्बन्धों को अनचाहे भी झेल लेती हैं और विवाहेतर सम्बन्धों में एक लंबे अरसे तक उलझे रहने के बावजूद पति के अपने ठीए पर लौट आने पर बाँहें फैलाकर वे उसे समेट लेती हैं। गांव कस्बे की अनपढ़ औरतों से लेकर प्रबुद्ध वर्ग की कामकाजी औरतों तक में 'सुबह के भूले भटके' पति के 'शाम ढले घर लौट आने' की स्थिति को स्वीकृति दिए जाने के बेशुमार उदाहरण मौजूद हैं।

कभी कोई औरत पति के तीखे स्वभाव या निरंकुश आचरण के प्रति अगर अपना प्रतिरोध जताती भी है तो औरत को परेशान देखकर घर परिवार के लोग भी समझ नहीं पाते और यही कहते हैं कि आखिर ऐसा उसने किया ही क्या है या क्यों राई का पहाड़ बनाया जा रहा है। पति चूँकि मारपीट नहीं करता, इसलिए अपनी निगाह में भी वह एक बेहद शालीन, सभ्य, सुसंस्कृत इंसान है, जिसके व्यवहार में कहीं कोई असामान्यता उसे स्वयं में दिखाई नहीं देती।

शारीरिक हिंसा और मानसिक हिंसा में एक बड़ा फर्क यह है कि शराब के नशे में या शराब के नशे के बहाने से जब एक पति अपनी पत्नी को रात के अंधेरे में पीटाता है, दूसरी सुबह नशा उतरने के बाद हिंसा के आफ्टर इफेक्ट्स की गंभीरता जानने समझने के बाद ही अनजाने में ही उसका विवेक यह तय कर लेता है कि उसे पत्नी के शरीर पर अपने लात घूसों के नीले काले निशानों के एवज में उसके पैर पकड़कर रो-धोकर माफी मांगनी है या जूते या चप्पल पहनकर पत्नी को फिर से दुत्कारते हुए, अपने काम पर बाहर निकल जाना है।

मानसिक प्रताड़ना में स्थिति बिल्कुल अलग होती है। चूँकि पति पत्नी पर हाथ नहीं उठाता और उसके शरीर पर चोट के कोई निशान नहीं छोड़ता, इसलिए उसकी आत्मा पर कोई बोझ भी नहीं रहता। वह जीवन भर इसे महसूस ही नहीं कर पाता कि वह कुछ गलत कर रहा है। ऐसे पतियों के शब्दकोश में माफी या क्षमा जैसे शब्द का अस्तित्व ही नहीं होता। पढ़े लिखे, प्रगतिशील, प्रबुद्ध वर्ग में यह स्थिति ज्यादा है। पत्नी को चांटा मारना या गाली गलौज करना, हाथ मरोड़ देना हिंसा में गिना जाएगा, इसलिए एक शालीन, संभ्रांत पति गलती से भी ऐसी क्रियाएँ नहीं

करता, वह इनसे बेहतर अदृश्य लेकिन पैसे औजारों का इस्तेमाल करता है – जिसमें संवादहीनता या चुप्पी की हिंसा प्रमुख है।

एसे पुरुष दोहरी छवि रखते हैं। एक वह, जो उनकी सार्वजनिक छवि है, जिसमें वे बेहद खुशमिजाज, जिंदादिल, मिलनसार, बेलौस ठहाके लगाने वाले इन्सान दिखाई देते हैं। आपका पति आपसे बात नहीं करता, जबकि अपने अन्य स्त्री या पुरुष मित्रों के बीच वह अपने उन्मुक्त, मिलनसार और जिंदादिल स्वभाव के लिए खूब सराहा जाता है। उसका जो चेहरा घर की चहारदीवारी के भीतर है, वह इस बाहरी चेहरे से काफी अलग है, इसलिए पत्नी हमेशा एक दुविधा की स्थिति में रहती है क्योंकि वह एकसाथ एक ही व्यक्ति के अलग-अलग दो चेहरों से जूझ रही है। सार्वजनिक स्थलों पर जाते ही या घर में करीबी मित्रों के बीच वह पति की जिन्दादिली से भरपूर शालीन छवि के साथ पूरी तरह तालमेल बिठाते हुए खुद भी मुस्कराती है।

दूसरी छवि घर के अंदर अपने कमरे या पढ़ने की मेज पर झुका हुआ एक चुप्पा, घुन्ना लापरवाह और आत्मकेंद्रित व्यक्ति है— जिसमें कोई सरसता— तरलता नहीं, जिसका घर के सदस्यों से कोई संवाद नहीं, जिसे देखकर घर परिवार के सदस्य या उसके मातहत काम करने वाले लोग दहशत में आ जाते हैं और स्वीकार करते हैं कि बाहरी सामाजिक सांस्कृतिक परिदृश्य का यह जाना माना व्यक्तित्व उनके सामान्य पारिवारिक आकार से कहीं बड़ा, विराट— विशाल और उनकी पहुंच से बाहर है। अगर वह अपने किसी दफ्तरी काम या लेखन में जुटा है और इस बीच उसकी पत्नी चाय का खाली जूठा कप, जिस पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, उसकी मेज पर से उठा लेती है या उसके छोटे बच्चों की गेंद खेल खेल में उसके कमरे की दीवार पर टकरा जाती है तो वह कलम कागज छोड़कर आसमान सिर पर उठा लेता है, बगैर यह सोचे कि घर जितना उसका है, उतना ही उसकी पत्नी या बच्चों का भी.... और यही बात वह प्यार से, बिना सप्तम सुर में अलाप कर आराम से भी समझा सकता है।

आपके पति अगर चुप रहते हैं, आपसे कुछ शेअर नहीं करते, आपकी ओर देखते तक नहीं, इसमें असामान्य क्या है? आप पर हाथ तो नहीं उठाते, मारते—

पीटते नहीं, आपके शरीर पर लाल—नीले निशान नहीं छोड़ते, इसकी शिकायत में आप क्या कहेंगे? इसका आप एफ.आई.आर दर्ज नहीं करवा सकते, क्योंकि बात न करना, चुप रहना, उपेक्षा करना कोई अपराध नहीं है। इसे अगर मैं चुप्पी की हिंसा/सायलेंट वायलेंस/ की संज्ञा दूँ तो इसे हंसी में उड़ा दिया जाएगा या कहा जाएगा कि इन नारीवादी औरतों का दिमाग खराब हो गया है। इन्हें उठते बैठते हर जगह हिंसा ही दिखाई देती है।

वरिष्ठ लेखिका मन्नु भंडारी ने अपनी आत्मकथा में अपने प्रतिष्ठित लेखक पति के बारे में लिखा है – “यों तो हर व्यक्ति के भीतरी और बाहरी दो रूप होते हैं, लेकिन किसी के व्यक्तित्व के इन दो रूपों में बहुत बहुत फासला होता है— इतना कि अगर दोनों को सामने रख दिया जाए तो आप पहचान भी न सकें कि ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। मैं नहीं जानती कि कितने लोग अपने इन दो रूपों के प्रति सचेत भी होते हैं। राजेन्द्र को तो जैसे इसका ऑब्सेशन जैसा है। कारण भी साफ है, क्योंकि इनके दोनों रूपों में इतना अंतर है कि इनके बाहरी रूप को जानने वाले कभी विश्वास ही नहीं करेंगे कि इनके बहुत भीतरी व्यक्तित्व का एक ऐसा भी हिस्सा है, जो बहुत निर्मम, कठोर और अमानवीयता को छूने की हद तक क्रूर भी रहा है और इसकी मार झेली है उन लोगों ने जो बहुत अंतरंग होकर उनके प्यार की सीमा में होने का भ्रम पालते रहे। वास्तव में राजेन्द्र के प्यार और अन्तरंगता की सीमा में कोई हो भी नहीं सकता, सिवाय खुद राजेन्द्र के, क्योंकि किसी को भी प्यार की सीमा में लेते ही अधिकार की बात आ जाती है, जो राजेन्द्र किसी को दे नहीं सकते.... समर्पण की बात आ जाती है, जो राजेन्द्र कर नहीं सकते। हकीकत तो यह है कि आत्म-केन्द्रित और आत्मतोष के खोजी राजेन्द्र ने जिन्दगी में न अपने सिवाय किसी को प्यार किया, न कर सकते हैं वरना राजेन्द्र जैसा विवेकवान और संवेदनशील (?) व्यक्ति क्या इस बात को भी नहीं जानेगा कि प्यार का विस्तार ही तो अधिकार है... प्यार की परिपूर्णता ही तो है समर्पण! इनसे परहेज करके क्या प्यार किया जा सकता है?”

(“एक कहानी यह भी” पृष्ठ 206)

व्यक्ति की अपने प्रति घोर आसक्ति और अपने से जुड़े लोगों के प्रति अनासक्ति और अमानवीय आचरण को मनोवैज्ञानिक शब्दावली में आत्ममुग्ध व्यक्तित्व का असंतुलन/नारसिस्टिक पर्सेनेलेटी डिसऑर्डर (Narcissistic Personality Disorder) कहा जाता है, जहाँ व्यक्ति अपने अतिरिक्त किसी दूसरे

की भावनाओं और व्यवहार का विश्लेषण करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि उसकी अपनी आत्ममग्नता — उसकी विस्तृत सोच और भावनात्मक विश्लेषण के दरवाजे बंद कर देती है। अधिकांश कलाकार रचनाकार पति व्यक्तित्व के इस पहलू से आक्रांत होते हुए भी इससे अनजान रहते हैं। (मन्नू भंडारी ने अपनी किताब “एक कहानी यह भी” में जब यह पंक्ति लिखी थी — “आत्मकेन्द्रित और आत्मतोष के खोजी राजेन्द्र ने जिन्दगी में न अपने सिवाय किसी को प्यार किया, न कर सकते हैं” — उन्हें इस मनोवैज्ञानिक शब्दावली का कोई इल्म नहीं था।)

तनावजनित व्याधियाँ—

इस तरह के अनचीन्हे मानसिक तनाव (unidentified stress) शारीरिक बीमारियों को जन्म देते हैं। हर शरीर का जो अंग कमजोर होता है, वह इस तनाव से अवसाद ग्रस्त हो जाता है। कुछ औरतों की दमे की बीमारी जोर पकड़ लेती है। अपच और एसिडिटी जैसी पाचनक्रिया से सम्बन्धित बीमारियाँ फौरन शरीर को अशक्त बना देती हैं। पाइल्स, पेट में अल्सर, साइनस, माइग्रेन— सभी बीमारियाँ शरीर में एड्रेनल ग्रंथि के नकारात्मक रिसाव से पैदा होती हैं और यह क्रिया सीधे मानसिक अस्तव्यस्तता से और तनाव से जुड़ी हुई है।

इस तनावग्रस्त स्थिति का एक और परिणाम है, जिसे बहुत सी औरतें महसूस करती हैं। घर में खिड़कियाँ, दरवाजे खुले होने के बावजूद औरतें एकाएक घुटन— सफोकेशन महसूस करती हैं। उन्हें लगता है कि घर में हवादार झरोखों और रोशनदानों की कमी है। वे साँस नहीं ले पातीं, क्योंकि उन्हें लगता है— कमरे में ऑक्सीजन नहीं है। वे कमरे से निकलकर एकाएक बाल्कनी में आती हैं और फेफड़ों में ताजी हवा को खींचने लगती हैं।

महिला कार्डियोलॉजिस्ट अक्सर बताती है कि तनाव से गुजरती हुई उच्च मध्यवर्ग की धनाढ्य औरतें अचानक ई.सी.जी कराने उनके क्लिनिक आ जाती हैं; क्योंकि उन्हें लगता है कि वे दिल की भयंकर बीमारी से पीड़ित हैं और उनकी बीमारी को उनके अलावा कोई भी— यहाँ तक कि डॉक्टर भी नहीं पहचान पा रहा है। जब ई.सी.जी. की रिपोर्ट सामान्य आती है तो देखकर वे निराश होती हैं, क्योंकि उन्हें लगता है या तो डॉक्टर गलत है या उसकी मशीन वर्ना उनके दिल की धड़कन का एकाएक तेज हो जाना या खुली हवा में भी साँस न ले पाना एक सामान्य स्थिति

नहीं हो सकती। वे पाचन क्रिया की निष्क्रियता देखकर एन्डोस्कोपी जैसे भीषण तकलीफदेह परीक्षण से गुजरने को तैयार हो जाती हैं, क्योंकि उन्हें लगता है, वे अंतर्द्वियों के कैंसर से या पेट में अल्सर से जूझ रही हैं। वे अपनी बीमारी को मानसिक घुटन, अवहेलना और उपेक्षा से न जोड़कर अपने शरीर के अवयवों से जोड़ बैठती हैं।

मानसिक यातनाग्रस्त सम्बन्धों में औरत लगातार एक लंबे अरसे तक एक अनचीन्हे तनाव से ग्रस्त रहकर अपने शरीर को बीमारियों की शरण स्थली बना लेती है और फिर डॉक्टरों के पास जाना ही एकमात्र विकल्प रह जाता है, बगैर यह जाने कि इन बीमारियों का इलाज डॉक्टरों के पास तो है ही नहीं। विडम्बना यह है कि या तो औरत डॉक्टरों के पास जाती है या मनोचिकित्सक के पास, क्योंकि अपना खुश न रहना और निराशा के गर्त में चले जाना, उसे अपनी शारीरिक संरचना और बनावट में ही किसी खामी का परिणाम लगती है। वह यह कतई समझ नहीं पाती कि इसके सूत्र कहीं और हैं और इनका इलाज न डॉक्टरों के पास है, न मनोचिकित्सकों के पास। इन स्थितियों से उबरना उसके अपने हाथ में है— पहले वह इसे पहचाने तो सही कि इस बीमारी के कारण कहाँ जड़ें जमाए बैठे हैं।

इस समस्या की जड़ें हमारे संस्कारों में इतनी दूर तक और इतने गहरे तक पैठ चुकी हैं कि वे हमारे संस्कारों और हमारे अस्तित्व का एक हिस्सा बन जाती हैं और इसलिए इस प्रताड़ना की पहचान के बिना ही औरतें अपनी सारी जिन्दगी गुजार देती हैं। ये महिलाएं सलाहकार केंद्रों में सहायता के लिए तभी आती हैं, जब मानसिक प्रताड़ना एक लंबे अरसे के बाद अन्ततः गाली गलौज या शारीरिक हिंसा में धीरे-धीरे तब्दील होने लगती है।

घरेलू हिंसा से त्रस्त महिला को रास्ता सुझाने से कहीं ज्यादा मुश्किल है— मानसिक यातना झेल रही महिलाओं को समझाना, क्योंकि इस स्थिति में पुरुष बहुत समझदार— शालीन दिखता है, उसके अंदर बैठे हुए उस व्यक्ति से साक्षात्कार हो ही नहीं पाता जिसे वह महिला घर में झेल रही है, जो लगातार उसे बौना बना रहा है और उसके व्यक्तित्व को, उसकी प्रतिभा को कुचलकर उसे व्यक्तित्वहीन बना देना चाहता है। अव्वल तो सलाहकार केन्द्रों में बुलाने पर भी ऐसे पुरुष कभी नहीं आते। आते हैं तो वह अपना बाहरी सामाजिक संभ्रांत मुखौटा ओढ़कर आते

हैं। एक ही साँस में या तो वे अपनी पत्नी के अवगुणों की फेहरिस्त गिना देते हैं और काउन्सिलर के सामने कहते हैं कि बदलने की जरूरत इसे है, मुझे नहीं। यह खुश रहना ही नहीं जानती, मैं तो अपनी तरफ से इसे खुश रखने की पूरी कोशिश करता हूँ। या फिर मसीहाई अंदाज में पूरी शालीनता और संभ्रान्तता से खामोश रहकर यह जताते हैं कि वे कैसे बिल्कुल नहीं हैं जैसी तस्वीर उनकी पत्नी ने उनके बारे में प्रस्तुत की है।

अधिकांश गैरकामकाजी गृहिणी औरतें हर कीमत पर समझौता कर घर को घर बनाए रखने के लिए तैयार होती हैं। वे अपने पति की हर ज्यादाती भूल जाने को तत्पर दिखती हैं, क्योंकि वे अपने बच्चों के सर से पिता की सुरक्षा का साया खोना नहीं चाहतीं। दूसरा, अपने घर के प्रति लगाव— जिसका तिनका-तिनका वह बाहर से ढूँढ कर लाती है और अपना घर सँवारती है। शादी होते ही इस घर को वह अपना समझती है, क्योंकि शुरू से ही उसे कहा जाता है कि वह घर तुम्हारा है। इस घर का 'अपना' होना इस कदर उसको बाँहों में जकड़ लेता है कि वह सब कुछ झेल जाती है, पर उस घर से छूटना नहीं चाहती जिसकी दीवारों से भी वह प्रेम करने लग जाती है। घर की चार दीवारों की तरह पति रूपी एक पांचवी दीवार भी उसके प्रेम के घेरे में आ जाती है और उससे कटना या छूटना उसकी कल्पना से बाहर होता है, क्योंकि घर की चहारदीवारी के बाहर उसकी कोई दुनिया है ही नहीं।

सब कुछ सहर्ष अपने दायरे में समेटने के बावजूद अचानक एक दिन पति किसी दूसरी औरत के प्रेम में या प्रेम के भ्रम में पड़ जाता है और अपनी पत्नी को किसी अनचाहे सामान की तरह घर से बाहर धकेलने में जी जान से जुट जाता है। कई बार बच्चे भी सम्पत्ति पर अधिकार खो देने के डर से अर्थ कमाने वाले पिता के खिलाफ खड़े होने का साहस नहीं रखते और अपनी माँ का साथ नहीं देते। गृहिणी पत्नी के लिए यह इतना बड़ा धक्का साबित होता है कि वह अपना मानसिक संतुलन खोकर मानसिक चिकित्सा केंद्रों की शरण में जाती है और उसे वापस सामान्यता की ओर लौटाना मुश्किल ही नहीं, असंभव हो जाता है। कुछ मानसिक चिकित्सालयों का दौरा करें तो आप पाएंगे कि चालीस से ऊपर की औरतों से ये असाइलम अंटे पड़े हैं। ऐसी शादीशुदा औरतें, जिन्हें उनके किसी कुसूर के बिना ही उनके पतियों ने छोड़ दिया है, या डॉक्टरों से जबरदस्ती पागल होने का सर्टिफिकेट देकर अस्पतालों की ओर धकेल दिया है और जिनके मां-बाप, भाई-भाभी भी उन्हें नहीं पूछते, अन्ततः अपना बाकी का जीवन विक्षिप्तता की कगार पर ही काटती हैं।

दिमाग पर निरंतर निष्क्रिय होने की चोट उसे निष्क्रिय बना कर ही छोड़ती है —

मानसिक यातना के संदर्भ में कुछेक औसत संवादों की पड़ताल की जा सकती है—

“यू आर ब्यूटी विदाउट ब्रेन्स।”

“यू डॉट हैव ब्रेन्स”

“यू आर अ ब्रेनलेस वुमेन”

“तुम में बुद्धि की बहुत कमी है।”

“अक्ल की बात तो कभी करोगी नहीं”

“कभी अपनी अक्ल का इस्तेमाल भी कर लिया करो।”

“तुममें बुद्धि नाम की चीज ही नहीं है।”

“मुँह मत खोलो, वर्ना पता चल जाता है कि तुम्हारी अक्ल घुटनों में है।”

“तुम्हारी औकात क्या है।”

“तुम कौन-सा दूध की धुली हो।”

महिला अगर गृहिणी है तो उसे बाहरी स्पेस के मसलों पर जबान खोलने पर तत्काल टोक दिया जाता है। एक लम्बे अरसे तक उसके स्पेस को दाल चावल भाजी तरकारी यानी रसोई के क्रियाकलापों तक ही केन्द्रित कर दिया जाता रहा है।

मेरे दादाजी अक्सर मेरी दादी को टोकते थे— ‘तुझे जिस बात की समझ न हो, उस पर जबान मत खोला कर।’

यही वाक्य कुछ अलग तरीके से मेरे पिता, मेरी माँ से कहते थे— ‘बिजनेस की बात जहाँ आए, तू अपनी सलाह मत दिया कर।’ माँ जबान खोलें, उससे पहले उन्हें चुप रहने की हिदायत इस कदर झिड़क कर दी जाती थी कि माँ ने बोलना ही बंद कर दिया। हालाँकि बाद में पिता ने यह भी महसूस किया कि व्यवसाय को लेकर भी माँ की सलाहें हमेशा सही साबित होती थीं। इसके बावजूद माँ को किसी भी मसले पर मुँह खोलने का, सलाह देने का या अपनी शिकायत दर्ज करने का कभी अधिकार नहीं दिया गया।

आज की स्थिति पर आँ। आज महिलाएँ पढ़ी लिखी हैं। हर सामाजिक -

-राजनीतिक मुद्दे पर अपनी राय रखती हैं। उसके बावजूद पुरुष उसी धुरी पर अटका है, जो उसके बाप-दादा तय कर गए हैं। आज भी एक पति अपनी समझदार गृहिणी पत्नी से यही कहता है कि बिजनेस में अपनी बेशकीमत राय अपने पास ही रखो, यू डॉट हैव एनी बिजनेस सेंस। या यूज योर ब्रेन प्लीज।

कुछ केस हिस्ट्रीज —

उच्च मध्यवर्ग की एक संभ्रांत शालीन महिला से सुबह की सैर के दौरान पहचान हुई। उसकी उम्र साठ के लगभग थी। उस उम्र में भी वह अपनी जवानी के दिनों की कुछ धुंधली उम्मीदें, कुछ मुरझाए हुए सपने आँखों में समेटे हुए थी। बातचीत में बेहद शालीन और सलीकेदार। उसके घर की दीवारों पर खूबसूरत पेंटिंग्स लगी थीं, जो उसने शादी से पहले और शादी के दो-चार साल बाद तक बनाई थी। पर उसके चेहरे पर एक खोया-सा भाव जमा बैठा था— जिसे कहते हैं— लॉस्ट लुक। ऐसा भाव जो लंबे अरसे तक 'सेंस ऑफ नॉन बिलॉगिंग' और 'चुप्पी की हिंसा' झेलने से पैदा होता है। दो तीन दिन की पहचान में ही एकाएक खुल कर अपनी तकलीफ बयान करने लगी — “सुधा, आय हैव अब्यूज्ड माय बॉडी सो मच। आय हैव पनिशड इट। टॉर्चर्ड इट। नाउ माय बॉडी इज टेलिंग मी— नो मोर। टेक केअर ऑर आय लीव यू एंड गो।” (मैंने अपने शरीर का, अपनी सेहत का कभी ख्याल नहीं रखा। अपने को सजा दी, यातना दी। अब मेरा शरीर मुझसे कह रहा है— बहुत हुआ। अब मुझे संभालो, नहीं तो मैं चला।)

मैंने उससे कहा— तुम अकेली नहीं हो। सभी औरतें यही करती हैं। और कहीं तो जोर चलता नहीं, बस, अपने को सजा देने बैठ जाती हैं। और कोई रास्ता नहीं होता उनके पास। अपने को सजा देकर ही उन्हें सुख मिलता है। घर को मिटने से बचाए रखने का सुख, अपने को तहस नहस करके भी अपने को त्याग के ऊँचे आसन पर बिठाने का सुख और बच्चों के सिर पर एक सुरक्षित छत देने का सुख।

उस महिला की शिकायत थी कि उसके पति उससे कभी बात ही नहीं करते। जब भी वह उससे कहती है कि मुझसे भी दुनिया की खबरें शेअर करो, जो अपने दोस्तों से करते हो तो वे कहते हैं— “यू डॉट हैव एन आईक्यू। बात उससे की जाती है जिसमें बात समझने लायक थोड़ी बुद्धि हो। आय कैन टॉक ओनली टु इंटेलिजेंट पर्सन्स।” (तुम्हारे पास बुद्धि नाम की चीज नहीं है, मैं सिर्फ अक्लमंद लोगों से ही बात कर सकता हूँ।)

आगे बताने लगीं कि बीसेक साल पहले जब कोई मित्र दम्पति मिलने आते थे। और उसके पति से कहते थे कि यू आर लकी टू हैव सच अ ब्यूटीफुल वाइफ (आप खुशकिस्मत है कि आपकी बीवी इतनी खूबसूरत है) तो वे ठहाका मारकर फौरन विशेषण जड़ देते— “ब्यूटी विदाउट ब्रेन्स।” फिर अपनी पत्नी के माथे पर बिखरे बालों की लट संवारते हुए माफी मांगते हुए कहते — “अरे यार, मैं तो मजाक कर रहा था।” पर शादी के लगातार चालीस साल तक ‘यू डॉट हैव ब्रेन्स’ या ‘यू आर अ ब्रेनलेस वुमेन’ या ‘यू हैव अ पॉल्युटेड माइंड’ का हथौड़ा अपने सिर पर झेलने के बाद उनका दिमाग धीरे-धीरे सचमुच सुन्न हो गया, सोचने-समझने और रिएक्ट करने की ताकत खो बैठा, याददाश्त कमजोर हो गई और वह अपना आत्मविश्वास पूरी तरह खो बैठीं। अच्छी खासी चित्रकार होते हुए भी उसकी उंगलियाँ एक सीधी लकीर तक खींचना भूल गईं, मनोचिकित्सक के पास जाने लगीं और एंटी डिप्रेसेंट गोलियों की अभ्यस्त हो गईं।

एक अन्य महिला अपने पति के हर वक्त खीझते और चिल्लाते रहने से कभी-कभी अकेले में बैठकर अपना जी हल्का किया करती थीं। एक दिन उसके आठ साल के बेटे ने उसे रोते हुए देख लिया और उसके आँसू पोंछते हुए कहा— “क्या हुआ ममा, एट लीस्ट पापा आपको मारते तो नहीं है न!” बाद में उसने बताया कि उसके ‘बेस्ट फ्रेंड’ के पापा तो उसकी मम्मी को हर वक्त मारते रहते हैं। उस आठ साल के बच्चे की भी इस माहौल में एक मानसिकता तैयार हो रही थी कि पापा अगर माँ पर हाथ नहीं उठाते तो वह उतने बुरे नहीं हैं, जितना कि वे हो सकते थे, इसलिए हर वक्त डांटने या ताने देते रहने को जायज ठहराया जा सकता है।

उसकी शिकायत यह थी कि वह कभी पति से बात ही नहीं कर पाती। घर गृहस्थी के सौ पचड़े होते हैं, पर सुबह पति से बात करो तो वह कहता है—मेरे ऑफिस जाने के समय ही तुम्हें यह गृह पुराण लेकर बैठना होता है? ऑफिस से वह लौटे तब बात करो तो फिर बवाल कि अभी थका हारा लौटा हूँ, चैन से बैठने तो दो। छुट्टी के दिन बात करो तो वह या तो क्रिकेट देखने में मशगूल या नेशनल ज्यॉग्राफिकल चैनल। या क्रॉसवर्ड या सूडोकू या अखबार। अपनी शादी की सालगिरह के एक दिन हल्के मूड में उसने पति को उसके प्यार के नाम से पुकार कर कहा—

“अच्छा, यह बताओ, तुम्हें अगर क्रिकेट या अपनी बीवी-दोनों में से किसी

एक को चुनना पड़ जाए तो?”

उसने बिना पलक झपके उसी साँस में कहा- “क्रिकेट ऑफकोर्स! दौर्जा खोला आछे, बेरिए जेते पारो! (दरवाजा खुला है, बाहर जा सकती हो।)” और उसने उंगली खुले हुए दरवाजे की ओर उठा दी। वह औरत यह घटना सुनाते हुए भराए गले से कह रही थी कि एकदम मन हुआ कि अभी घर छोड़ूं और निकल जाऊँ? लेकिन कहाँ? अच्छी खासी ज़हीन, कामकाजी पढ़ी लिखी औरतें भी शादी के बाद एक गृहिणी की भूमिका अपना कर अपने लौटने के सारे विकल्प खुद ही बंद कर देती हैं।

इन उच्च मध्यवर्गीय संभ्रांत घरों में अक्सर यह होता है कि पति अपनी गाड़ी की चाभी या कोई जरूरी कागज़ कहीं रखकर भूल जाता है और इसके लिए पत्नी पर शब्दों की मूसलाधार बारिश करता है कि चाभी कहाँ रखी है! इसके लिए वह ज़मीन आसमान एक कर देता है। वह जब चीख चिल्ला कर अपना चेहरा लाल कर रहा होता है, पत्नी चाभी से ज्यादा अपने पति के बढ़ते हुए रक्तचाप को देखकर चिंतित होती है और उसे अपनी सेहत के लिए शांत रहने की सलाह देती है। अन्ततः चाभी पति के शॉर्ट्स की जेब में रखी हुई मिलती है। वह जानता है कि चाभी उसने रखी थी पर अपनी चीख चिल्लाहट पर सॉरी कहने के बजाय, वह हफ्तों पत्नी से बात करना बंद कर देता है। पत्नी अपने घर और रसोई की छोटी-सी स्पेस में आखिर कब तक इस अबोले से जूझेगी? अन्ततः वह पति से संवाद कायम करने की कोशिश में उस गलती के लिए माफी मांगती है जो उसने की ही नहीं।..... और यह एक बेहद सामान्य स्थिति है, जिससे लगभग हर गृहिणी (हाउसवाइफ या होममेकर जो भी कहें) गुज़रती है। पर एक पढ़ी लिखी समझदार औरत को भी इसी तरह काट-छील कर अपने से निचले दर्जे पर पहुँचाने का, बार-बार उसकी पोशाक पर उसके बेवकूफ, इडियट, मूर्ख, कूढ़मगज होने के चमकदार तमगे टांगकर उसकी रचनात्मक प्रतिभा और उसके भीतर के कलाकार को कुंद करने का त्रासद आनंद (सैडिस्टिक प्लेज़र) किसी भी शालीन दिखने वाले पति के खाते में दर्ज किया जा सकता है।

कई बार देखने में बेहद खूबसूरत और सलीकेदार, प्रतिभावान औरत का पति, असुरक्षा की भावना के चलते मौखिक रूप से आक्रामक हो जाता है। ऐसा पुरुष जानता है कि वह कमज़ोर है, इन्फिरियर है, इसलिए वह सुपीरियॉरिटी का

स्वांग रचता है। अपनी हीन भावना को छिपाने के लिए वह अपनी पत्नी पर चिल्लाता है, नाराज़ होता है, उसे घर की नौकरानियों के सामने अपमानित करता है, उस पर बेबुनियाद आरोप लगाता है, और अन्ततः हिंसक हो जाता है।

यह किसी एक महिला की कहानी नहीं है। हज़ारों पढ़ी लिखी समझदार औरतें अपने प्रबुद्ध प्रगतिशील पतियों से साल-दर-साल चौबीसों घंटे एक से औसत संवाद सुनती चली जाती हैं कि उनमें अक्ल की कमी है, कि वे बेवकूफ हैं, कि वे किसी काम की नहीं हैं, कि वे हर समय नुक्ताचीनी करती हैं- अंग्रेजी में जिसे नैगिंग वाइफ कहते हैं, और अन्ततः वे इस तथ्य में विश्वास जमा लेती हैं कि सचमुच उनमें कोई कमी है, उनका आईक्यू निचले दर्जे का है। हीन बना डालने की साजिश के हथौड़े के वार को लगातार दिमाग पर झेलते हुए उनके सोचने समझने की क्षमता धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है, घर आए मेहमानों के बीच बात करते हुए वे डरती हैं कि पता नहीं इस बौद्धिक चर्चा में वे कोई बेवकूफी की बात न कह बैठें और उनके पति उनकी कौन-सी बात को अन्याय ले बैठें और वे सबके बीच हंसने की सामग्री बन बैठें। काम करने या लिखने-पढ़ने का जज्बा भी इस जबरन पैदा की गई हीन भावना के चलते दम तोड़ देता है।

एक आदिवासी प्रथा है कि एक पेड़ को अगर काटना है तो उस पर आरी या कुल्हाड़ी नहीं चलाते बल्कि कुछ आदिवासी मर्द औरतें उस पेड़ को चारों ओर से गोलाकार घेर कर खड़े हो जाते हैं और पेड़ को अपशब्द कहने लगते हैं- ‘तू सूख जा!, तू मर जा!, तुझ पर ईश्वर का कहर बरसे! गालियाँ देते हैं और कोसते हैं। कुछ ही दिनों में उस पेड़ के पत्ते सूखने लगते हैं और वह अपने आप टूटकर गिर जाता है। यही हाल उन औरतों का होता है, जिन्हें हर रोज ब्रेनलेस या बेवकूफ होने का खिताब दिया जाता है।

हेरानी होती है कि औरतें इस कदर इन भ्रामक, गलत और झूठे इल्जामों के ढेर को अपने भीतर पैठने कैसे देती हैं? कि एक दिन वे सचमुच यकीन करने लग जाती हैं कि उनके दिमाग के साथ कोई गंभीर समस्या है, कि वे ‘ब्यूटी विदाउट ब्रेन्स’ हैं, कि उनके दिमाग में प्रदूषण है! यह सुनते-सुनते उनका दिमाग सचमुच सुन्न और संज्ञाहीन होकर काम करना बंद कर देता है। मानसिक तनाव के चलते उनकी सोचने की ताकत धीरे-धीरे भोथरी हो जाती है। निस्संदेह इसके कारण उसकी

परवरिश, उसके संस्कारों और हर कीमत पर घर को बचाए रखने की उसकी सोच से वाबस्ता हैं, जहाँ ज़हीन, प्रतिष्ठित और कामयाब पुरुष को पति के रूप में पाना ही उसे अपने जीवन का एकमात्र मकसद लगता है और इस सम्बन्ध को बचाए रखने की ज़िद में वह अपनी ज़िन्दगी, अपने साँस लेने के अधिकार तक को दांव पर लगा देती है।

ऐसे पुरुषों का एक और कॉमन संवाद है— “तुम हो क्या ! तुम्हारी औकात क्या है !” अपने से ज़्यादा कमाने या अपने से ऊंची पोस्ट पर काम करने वाली अपनी ज़हीन पत्नी को कहने में भी वे नहीं हिचकते कि “तुम्हारी औकात क्या है !” यह बहुत से पतियों का बेहद प्रिय वाक्य है। वे अपनी औकात के प्रति इत्मीनान से आँखें मूंदे उसे अनदेखा करते रहते हैं, और अपनी पत्नी के अस्तित्व को कुचल कर रख देने वाले ऐसे तीखे संवाद उच्चारित कर, अपने को स्वनिर्मित पेडेस्टल पर खड़ा कर लेते हैं।

सामान्य संवाद कई हैं, और उनमें से एक है कि तुम कौन-सी दूध की धुली हो। पति की प्रताड़ना से तंग आकर जब कोई भी औरत अपनी अलग पहचान बनाना चाहती है तो पुरुष उसके चरित्र पर अपना हंसिया रख देता है। जब भी पति पुरुष का खिलदड़ापन या उसका लंपट होना पकड़ा जाता है, वह झट अपने चरित्र के दाग को छिपाने के लिए अपनी पत्नी के चरित्र पर लांछन लगाना शुरू कर देता है। अपने गुनाहों की लकीर को छोटा साबित करने के लिए पति, पत्नी के आरोपित गुनाहों की एक लंबी लकीर सामने आंक कर आश्वस्त हो लेता है। अपनी पत्नी को झूठा या बदचलन करार देना, उन कमज़ोर पुरुषों का हथियार है जो आत्मविश्लेषण करने या अपने भीतर झाँकने से इनकार करते हैं। आक्रामक होना रक्षात्मक होने का ही हथियार है।

ऐसा नहीं है कि पुरुष स्त्रियों के हाथों यातना का शिकार नहीं होते। कई शालीन प्राध्यापक या सामान्य नौकरीपेशा पतियों को अपनी कामकाजी दंग पत्नियों के विवाहेतर संबंधों को आँखें मूंदकर स्वीकार करते और सामाजिक भय के कारण पत्नी की ज्यादाती या आक्रोश को नज़रअंदाज़ करते भी देखा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि कई औरतें पुरुषों से भी अधिक खूंखार और सैडिस्ट होती हैं। ऐसी औरतों के तांडव के सामने दस पुरुषों की यातना फीकी पड़ जाए (बाज़ारवाद और

उपभोक्तावाद की देन ऐसी औरतों की तेज़ी से पनपती हुई जमात के बारे में भी हमें करनी है, क्योंकि पितृयार्की इन्हीं औरतों को आधारस्तंभ बनाकर पनपती है—जब कोई पुरुष अपनी पत्नी को यातना देता है तो अधिकांशतः इसके पीछे उसकी माँ, बहन या उसके जीवन में आयी ‘दूसरी औरत’ होती है, जो बखूबी ‘पत्नी’ की भावनात्मक कमजोरी- वल्लरेबिलिटी पहचान कर उसे तहस नहस करने में पुरुष को उकसाती बहकाती है, पर क्या इससे पुरुष क्षम्य हो जाता है? एक पुरुष अगर दूसरी औरत के हाथ का खिलौना बनता है और अपने क्रियाकलाप, सोचने-समझने की सामर्थ्य की चाभी दूसरी औरत के हाथ में सौंप उसके इंगित पर अपनी पत्नी पर बेवजह खौलता है तो इससे उसका गुनाह कम नहीं हो जाता।) पर जब हम किसी सामाजिक सामान्य मसले पर बात करते हैं तो अनुपात के तहत ही धारणाएँ तय करते और उनका हल निकालने की कोशिश करते हैं और मानसिक यातना के मसले में अनुपात 95/5 का ही पाया गया है। हो सकता है, अब यह प्रतिशत बढ़ रहा हो। लेकिन यहाँ हमें उस बड़े अनुपात की बात करनी है, अपवाद की नहीं। हालाँकि दोनों तरह की प्रताड़ना में निबटने के तरीके एक ही हैं—वह स्त्री के लिए हों या पुरुष के लिए। जो पक्ष कमज़ोर होगा, वही प्रताड़ना सहने पर मजबूर कर दिया जाएगा।

पावर स्टेप्स—आखिर आउटलेट कहां है?....

यह सवाल जरूर उठता है कि औरतें अपने को ही सज़ा देने क्यों बैठ जाती हैं। और कोई रास्ता क्यों नहीं होता उनके पास?

जब भीतर खलबली मची होती है, मन बेचैन होता है, अपने आप से डर लगने लगता है कि बिना वजह कुछ तोड़ फोड़ न कर दें, किसी पर बरस न पड़ें। तो यह बेचैनी उतरेगी किस पर? किस पर वश चले? जाहिर है, घर के मालिक पर तो नहीं ही—चाहे वह ससुर हो, जेठ हो या कोई और बुजुर्ग, क्योंकि वहां ज़ोर नहीं चलता। सास पर? नहीं, क्योंकि उसके पति की मां हैं वह। हर हाल में इज्जत की हकदार हैं। हमारी माताओं ने हमारी पीढ़ी को यही सीख दी है कि सास को मां समान समझो। पति पर? वह तो जहांपनाह हैं घर के। अन्नदाता हैं। एकल परिवार में उन्हीं की हुक्म उदूली होती है। बचा कौन? अपनी सारी खीझ, गुस्सा, कुंठाएँ कहाँ निकालें? बच्चों पर? एक तो इतने मासूम होते हैं, दूसरा पिता का प्यार नहीं मिलता उन्हें, तो दोहरी जिम्मेदारी औरत की बनती है कि उन्हें वह पिता के प्यार की कमी महसूस न होने दे। और दूसरा, वे घर पर रहते नहीं, और अच्छा ही है कि नहीं

रहते वर्ना वे मासूम ही शिकार होते इस खलबली का, इस बौखलाहट का। लेकिन फिर भी ये मासूम बच्चे ही गृहिणी की कुंठा का शिकार होते हैं।

मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय घरों में, जहाँ काम करने वाले मौजूद होते हैं, वहाँ बच्चे तो कमोबेश मां की झल्लाहट का शिकार होने से बच जाते हैं, वहाँ सारी खलबली का शिकार होती है—एक अदद गरीब, मासूम नौकरानी— वह, जो बिना किसी अपराध के, सिर्फ अपनी गरीबी और काम करने की मजबूरी के कारण आटे में घुन की तरह पिसती है। बच्चे भी अनजाने में अपना गुस्सा घर की नौकरानी, माली, अर्दली, ड्राइवर पर उतारते हैं, क्योंकि वही एक है जिनसे वे अपने आप को ऊपर पाते हैं।

अब अगर उसने मेज नफासत से नहीं लगाई या चम्मच सलीके से नहीं रखे या सब्जी एक नपे-तुले अंदाज में नहीं काटी तो सोचने की बात है कि अगर उसे इतनी ही समझ होती तो आपके यहां इतने कम पैसों में चौका बर्तन ही कर रही होती? अगर इतनी लियाकत और सलीका होता तो कहीं किसी बेहतर जगह न चली गई होती? झाडू-पोंछा ही करती रहती जिदगी भर? नौकरानी पर ज़्यादा नाराज़गी ज़ाहिर नहीं की जा सकती, उसके काम छोड़कर चले जाने का अंदेशा है। फिर भी घर की मालिकन उसे बख्शाती नहीं। वजह यह है कि उस गृहिणी का भी घर में वही दोयम दर्जा है जो उस नौकरानी का है। एक दोयम दर्जा दूसरे दोयम दर्जे पर गुस्सा, भंडास निकालकर अपने दर्जे को थोड़ा-सा ऊँचा उठाना चाहता है।

घरेलू हिंसा की कार्यशालाओं में अक्सर इन पावर स्टेप्स के बारे में बात की जाती है—

ससुर
सास
पति
औरत
बच्चे
नौकर/ आया

सयुक्त परिवार की सबसे ऊपर वाली सीढ़ी पर खड़ा है—घर का मुखिया यानी ससुर, जेठ या दूसरे बुजुर्ग। दूसरी सीढ़ी पर सास। उसके बाद पति का नंबर आता है। लेकिन इन तीनों सीढ़ियों पर जमी बैठी सत्ता का शिकार घर की गृहिणी है। जिसका दाँव लगता है, वह उस पर बरस लेता है। अब यह औरत, जो घरेलू चक्की में पिस रही है, दनादन तीन सत्ताओं का कहर झेलती है। उसके लिए आउटलेट है तो अगली सीढ़ी पर खड़े निरीह बच्चे, जिन पर वह बेवजह बरस तो पड़ती है, पर उसका मन भीतर से जब कचोटता है तो वह अतिरिक्त लाड़ उड़ेलने लगती है। दोनों ही स्थितियाँ असामान्य हैं। बच्चों पर बिगड़ना भी, और फिर उन्हें दुलार-दुलार कर बिगाड़ना भी। ऐसे संबंधों में बच्चे हमेशा दुविधा में रहते हैं, और समझ नहीं पाते—माँ उन पर क्यों बेवजह खीझती रहती है, और फिर बेवजह अतिरिक्त दुलार जताने लगती है।

बच्चे बिना किसी अपराध के हमारे तनाव की वेदी पर बलि चढ़ जाते हैं। जानते हैं, माँ सारा दिन घर के लिए खटती भी है और पापा के, दादी के तेवर का, बुलंद आवाज का, शिकार होती है तो मां के प्रति सहानुभूति के चलते उन्हें माँ की ऊँची आवाज़ से भी शिकायत नहीं होती। बचपन से ही उनके सिस्टम में जाने अनजाने यह सहनशीलता विकसित हो जाती है। ऐसे घरों के बच्चे अपने माता-पिता के तनावों से दूर होने के लिए एक हड़बड़ी में अपने जीवन का फैसला कर लेते हैं। दलित लेखिका कौसल्या बैसंत्री की बेटी सुजाता पारमिता बताती हैं कि जिस दिन मेरी माँ पिता से पिटती थीं, अगले दस दिन तक वह मुझे पीट पीट कर अपना गुस्सा निकालती थीं, क्योंकि बेटों को पीटना नहीं चाहती थीं और नौकर-नौकरानी घर में थे नहीं, तो ले देकर एक बेटी ही उपलब्ध थी, हर वक्त पिटने के लिए। यह पीटना इतना बढ़ता गया कि सुजाता ने आव देखा न ताव, उस घर से और माँ की रोज़ की पिटाई से बचने के लिए पहले ही प्रेम में झटपट शादी कर ली और वह शादी ही उसके तनावों, बीमारियों और बाकी की जिन्दगी की अंतहीन तबाही का कारण बनी।

औरत को बाहरी स्पेस से काटना

पितृसत्ता के संस्कार लेकर आने वाला मध्यवर्ग का पुरुष अपने घर पर और परिवार के सदस्यों पर शासन और नियंत्रण चाहता है, इसलिए वह कभी नहीं चाहता

कि उसकी पत्नी भी नौकरी करे। शादी से पहले कामकाजी औरत की भी नौकरी किसी न किसी बहाने छुड़वा दी जाती है। एक घर चलाने लायक औसत आमदनी वाले नौकरी पेशा मर्द की भी औरत को 'जिबह' करने की पहली चोट यही होती है कि छोटे भाई बहनों, सास ससुर या बच्चों की देखभाल का वास्ता देकर उसकी नौकरी छुड़वा दो। शादी के बाद प्यार-मनुहार से अक्सर वह अपनी नयी नवेली कामकाजी दुल्हन को मनाने में सफल हो जाता है कि नौकरी से ज्यादा ज़रूरी उसका परिवार है, और परिवार की कीमत पर उसे नौकरी नहीं करनी चाहिए।

औरत नौकरी करेगी तो एक बाहरी बड़े 'स्पेस' से उसका साक्षात्कार होगा और बहुत कम पति इतने उदार होते हैं कि अपनी पढ़ी लिखी पत्नी को अपनी प्रतिभा सँवारने निखारने का मौका दें। वे उसे अपने अंगूठे के नीचे ही रखना चाहते हैं। इसलिए बेहतर तरीका यह है कि पत्नी के हर जन्मदिन पर पाक कला की पुस्तकें उसे भेंट कर रसोई में स्वादिष्ट व्यंजन पकाने में और घर को होटल के कमरे-सा साफ सुथरा बनाए रखने में उसे उलझाए—भरमाए रखो। घर आए मेहमानों के सामने घर के कलात्मक रखरखाव का सारा श्रेय पत्नी को देकर और उसकी पाककला की तारीफ में कसीदे पढ़कर उसकी मुख्य स्पेस रसोई का चूल्हा (चक्की) बना दिया जाता है। रसोई के उस छोटे से दायरे में पहले अपने को झोंककर और अन्ततः अपने को खोकर वह अपनी स्थिति और प्रतिभा को पहचान पाने में असमर्थ, पति और बच्चों के लजीज़ खाने के बाद उंगलियां चाटने और चटखारों से ही परम प्रसन्न हो जी लेती है, और पति और बच्चों के लिए खाना बनाना उसे जिन्दगी का सबसे महत्वपूर्ण काम लगने लगता है।

घरेलू श्रम तो अवैतनिक मानद कर्तव्य की इतनी ऊँची उपाधि पा जाता है कि औरत अपना पूरा अस्तित्व ही सहर्ष उसमें विलुप्त हो जाने देती है। अपने को ढूँढने के लिए जब तक वह चेतती है, समय उसे पीछे धकेलकर बहुत आगे बढ़ चुका होता है। जीवन के अंतिम चरण में कभी भी उसे पति ताना दे सकता है कि वह बीस-तीस-पैंतीस सालों से उसे दो वक्त की रोटी दे रहा है और सड़क पर उतर कर वह 'चार पैसे' कमाकर तो दिखाए। आमतौर पर चालीस से पचास के बीच की औरतें अपने स्थायी पति से सड़क पर उतरने का आदेश पाकर और अपने पत्नीत्व के ओहदे के 'अस्थायीत्व' से एकाएक बौखलाकर या तो मानसिक चिकित्सा केंद्रों में पहुंच जाती हैं या महिला सलाहकार केंद्रों का रुख करती हैं। इन महिलाओं के लिए अपने पति के लिए गँवाए हुए लंबे समय को लौटा पाना एक स्थायी टीस बनकर रह जाता है।

औसत युद्धस्थल— खाने की मेज़

इस श्रेणी के सामंती पुरुषों का एक औसत युद्धस्थल है—खाने की मेज़। पत्नी को यातना देने का सबसे बड़ा हथियार। खाने की मेज़ पर आने से पहले ही वे नाक-भौं सिकोड़ते हुए आते हैं, यह मानते हुए कि खाना उनके मन मुताबिक नहीं बना है। रोज़ का खाना एक ऐसी चीज़ है जिसमें हर रोज़ एक नया नुक्स निकालना बहुत आसान है।

खाने में नमक कभी कम है, कभी ज़्यादा है। कोई सब्जी हर तीसरे दिन बन जाती है तो कोई एक महीने से क्यों नहीं बनी। कभी सब्जी ज़्यादा पक गई है, कभी कच्ची रह गई है। कभी मसाला कम पड़ गया है, कभी ज़्यादा। कभी सब्जी की रसा पतली रह गई है, कभी गाढ़ी हो गई है। कभी चिकन-मटन भी आलू मटर की सब्जी जैसा बन जाता है तो कभी सब्जी घास फूस जैसी लगने लगती है। अधिकांश गृहिणी पत्नियों के लिए यह रोज़मर्रा की समस्या है कि खाना क्या पकाया जाय और कैसा पकाया जाए कि उनके पति खुश रहें। लेकिन वह कितनी भी कोशिश कर ले, लाख खाना खजाना की व्यंजन विधियों पर प्रयोग करती रहे, वह कभी अपने पति की माँ जैसा खाना नहीं बना पाएगी, क्योंकि खाना वैसा कभी बन ही नहीं सकता, जैसा पति की माँ बनाती हैं या बनाती थीं। भारतीय परिवारों में सास और ननद इसमें ज्यादा बड़ा रोल अदा करती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि उनके घर में दाखिल होने वाली यह नयी लड़की जिस माहौल में बीस, पच्चीस साल रची-बसी रही है, जिसे जड़ समेत उखाड़कर नयी मिट्टी में रोपा गया है, अलादीन के चिराग को घिसते ही उसका कार्यांतरण नहीं हो सकता और ऐसी अपेक्षा उस लड़की से क्यों की जाए कि वह नए खाद पानी से एकाएक पलक झपकते ही तालमेल बिठा ले।

अधिकांश गृहिणियां इस मुहावरे को सच मान लेती हैं कि पुरुष के दिल तक पहुँचने का रास्ता उसके पेट से होकर जाता है— 'द वे टु अ मैनस हार्ट इज थ्रू हिज़ स्टमक।' यह वे नहीं समझ पातीं कि खाना एक 'कारण' नहीं, उसे उलझाए रखने और तनाव में बनाए रखने का एक बहाना मात्र है। इसे समझने के बजाए वे ताउम्र नए से नया खाना बनाने और खाने में नए से नए प्रयोग करने के तरीके ईजाद करती रहती हैं। इसके बावजूद पतिदेव या तो खाना खाए बग़ैर उठकर चले जाते हैं या खाने के प्रति अपनी अरुचि जाहिर करने के लिए पत्नी को दिग्घात दिग्घातकर सब्जी को अचार की तरह छुआकर रोटी का कौर मुंह में डालते हैं या घर का पका हुआ

खाना एक तरफ सरका कर किसी महंगे होटल से थाई या मेक्सिकन खाना मंगवा लेते हैं।

कई बार नाराज़गी दिखाने का यह तरीका भी आजमाया जाता है कि पति दो-चार-दिन की भूख हड़ताल पर चला जाता है। वह पत्नी की कमजोर नब्ज पहचानता है। यह जानते हुए भी कि पति भूखा नहीं रहेगा, पत्नी अपराध भाव के मनो बोज़ तले दब जाती है। पति का बिना खाए घर से निकल जाना, उसे अपनी नाकामी का जबरदस्त अहसास दिला देता है। पति के पास बाहर की एक बड़ी दुनिया है। वह पत्नी पर नाराज़ होकर ब्रीफकेस उठाकर घर से बाहर चला जाता है, ऑफिस जाकर बढ़िया ब्रेकफास्ट मंगवाता है और भूल जाता है कि जिस गृहिणी की दिनचर्या की सबसे बड़ी सार्थकता अपने पति को ढंग का खाना खिलाकर खुश रखना है, उसे वह रोता-कलपता छोड़ आया है। इधर औरत अपनी छोटी-सी घरेलू दुनिया में अपने को कोसती-खीझती अपने वजूद को रौंदती रहती है।

नाराज़गी का ज़्यादा प्रदर्शन करना हो तो खाने की थाली को मेज़ से उछाल कर दीवार पर अमूर्त चित्रकारी करने के लिए फेंक दिया जाता है। यह पति सब कुछ कर सकता है, पर अपनी पत्नी पर हाथ उठाने की गलती कभी नहीं करता। ऐसी ही गृहिणियों के बच्चे अपनी माँ की आँखों में आंसू देखकर कहते हैं— “तो क्या हुआ ममा, एट लीस्ट पापा आपको मारते तो नहीं है न!”

सुप्रीम कोर्ट की वकील इंदिरा जयसिंह के अनुसार “हिंसा का एक प्रकार यह भी है कि पति पत्नी को सेक्स से वंचित रखता है। शादीशुदा औरतों की अलिखित आचार संहिता के अनुसार औरतें सेक्स की मांग नहीं करतीं, सिर्फ सेक्स की स्वीकृति देती हैं। कानून की अपनी सीमाएँ हैं, और दुनिया का कोई भी कानून सेक्स करने को बाध्य नहीं कर सकता और न ही इसे हिंसा के किसी प्रकार में गिनता है। —

(‘द राइट टु लिव विथ डिग्निटी’-द हिंदू-30 मार्च 2008)

औसत युद्धस्थल के और भी कई फ्रंट हो सकते हैं, जैसे बच्चों की पढ़ाई लिखाई, पत्नी का पहनावा या घर का रखरखाव। अगर पुरुष को शिकायत ही करनी है तो अपने कमाऊ होने की बिना पर वह किसी भी मुद्दे पर शिकायत कर सकता है और इसे अपने अधिकार क्षेत्र में मानता है। इसे एक तरह का सैडिस्ट स्वभाव भी कहा जा सकता है, जहाँ अपने करीबी व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाकर ही पुरुष अपने अहं को सतुष्ट कर पाता है।

आर्थिक आजादी, दोहरी जिम्मेदारी

आज स्थितियाँ बदली हैं। बाहरी कार्यक्षेत्र में औरत का योगदान बढ़ा है। आर्थिक आजादी ने औरत को दोहरी तिहरी जिम्मेदारी में जकड़ दिया है और पुरुष औरत की आर्थिक आजादी से चुनौती पाकर, अपनी असुरक्षा को ढांपने के लिए न सिर्फ गैर जिम्मेदार हो जाता है, बल्कि उसके भीतर पत्नी के लिए शक का फन फुंफकारता हुआ उसे हिंसक भी बना देता है। प्रताड़ना का स्तर यहां भी है। काम से लौटने में देर हो गई तो परिवार में बवाल उठ खड़ा होता है।

पत्नी को नौकरी में अगर प्रमोशन मिलता है तो पति इसका श्रेय उसकी काबिलियत को न मानकर बॉस को खुश रखने के इतर कारणों में ढूँढता है। यह शक की लाइलाज बीमारी हर वर्ग के पुरुषों में है। बिल्कुल निचले तबके से लेकर उच्च वर्ग के पुरुष तक इससे कतई मुक्त नहीं है। सोलहवीं शताब्दी का ‘ओथेलो’ सिर्फ शोकसपीयर के समय का यथार्थ नहीं है, आज की इक्कीसवीं शताब्दी के पुरुष में भी ‘ओथेलो’ मौजूद है और यह कस्बे के अर्द्धशिक्षित ‘ऑकारा’ में ही नहीं, विश्वविद्यालयों के वाइस चांसलरों और करोड़पति उद्योगपतियों तक में फैला हुआ है। इनकी निरीह ‘डेस्टिमोनाएं’ बेचारी समझ ही नहीं पाती कि उनका आकर्षक व्यक्तित्व और मिलनसार स्वभाव उनके समर्पण के विपरीत जाकर बेवजह ही उनके जीवन का अभिशाप कैसे बन जाता है।

स्त्री स्वभाव की एक मूलभूत त्रासदी यह भी है कि आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर पत्नी का भी भावात्मक कोना उतना ही वल्लरेबल, अशक्त और अपेक्षाएं रखनेवाला होता है, जितना एक आश्रित घरेलू गृहिणी का। ग्रामीण, अशिक्षित, परम्परावादी औरत हो या पढ़ी लिखी, नौकरी पेशा और पूरी तरह सजग चौकस एक्टीविस्ट—सारी त्रासद स्थितियाँ उस भावात्मक कोने की वजह से पैदा होती हैं जो प्रेम पाने की जगह अपने पुरुष से शक की बिना पर निरन्तर चोट खाता रहता है। इसके बावजूद एक पत्नी भावात्मक लगाव से ताउम्र मुक्त नहीं हो पाती।

कुछ पौधे होते हैं—देखने में बहुत नाजुक, मुलायम से पत्तों वाले, पर उनकी टहनियों को कहीं से भी काट दो, उन कटी हुई जगहों से ही फिर हरे हरे नाजुक से पत्ते निकल आते हैं। औरतें भी ऐसी ही होती हैं। कहीं से भी काट दो, छील दो, फिर उसी छिली हुई जगह पर कोमल भीगी सी नमी अंकुरित होने लगती है। सब

कुछ भुलाकर प्रेम देने के लिए औरत हमेशा तैयार खड़ी होती है, लेकिन आत्मकेंद्रित और अहंकारी पति अपने इर्द-गिर्द ऐसी दीवार बना लेता है कि सामने वाला अगर प्रेम देना भी चाहे तो उस दीवार को भेदना आसान नहीं होता। उस तक सिर्फ वही पहुंच सकता है जिसे वह अपने पथरीले अभेद्य दुर्ग में आने की अनुमति दे।

आखिर रास्ता क्या है ?

भावात्मक लगाव अपनी जगह है, और इसका संबंध औरत की शारीरिक संरचना से है। मानसिक यातना से निबटने के लिए भी एक औरत को अपनी रणनीति तय करनी होगी। इसे सिर्फ एक पति के स्वभाव या उसके परिवेश और संस्कारगत माहौल को जिम्मेदार ठहराकर, उसे दरकिनार नहीं किया जा सकता। संवादहीनता की कुंठाओं की पहचान भी जरूरी है। जब तक पहचान ही नहीं होगी, समस्या का निदान संभव ही नहीं है।

हमसे पिछली पीढ़ी की सबसे बड़ी गलती यह रही कि जहां बेटी को शादी करके विदा किया, मां-बाप उसकी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेते थे। बेटियां जैसे तैसे पूरी जिन्दगी काट देती थीं, क्योंकि उन्हें मालूम था कि मां-बाप से उसे किसी तरह के भावात्मक आधार या संबल की आशा नहीं रखनी है। जिस दहलीज़ को लांघकर वे बाहर निकल आई हैं, जरूरत पड़ने पर भी उसका किवाड़ खुला हुआ नहीं मिलेगा इसलिए वह कभी अपने 'दुख' अपने माता-पिता, भाई-बहन से बांटती नहीं थी। अन्नपूर्णा मंडल की तरह आत्महत्या करने से पहले अपने मां बाबा को लिखी आखिरी चिट्ठी में भी सारा दोष अपने सिर पर ले लेती थीं कि अगर मैं जल्दी थक गई तो इसमें दोष तो मेरा ही है न।

औरतों की कई पीढ़ियों ने सहनशीलता को अपना सबसे खूबसूरत गहना माना और इसके बूते हिन्दुस्तान की करोड़ों शादियां टिकी रह गईं। एक दिलचस्प घटना मुझे याद आ रही है, जब एक महिला संगठन की कार्यशाला के बाद एक ग्रामीण महिला ने बेहद परेशान लहजे में पूछा- 'एक साल पहले मेरी बेटी की शादी हुई। तभी से उसे उसके ससुराल वाले बहुत परेशान कर रहे हैं। उसे ठीक से खाना भी नहीं देते। वह सूख कर कांटा हो रही है। मैं जाती हूं तो मुझसे अकेले में बात भी नहीं करने देते। क्या करूं?' पिछली पीढ़ी की एक तथाकथित स्वनामधन्य बुजुर्ग

कार्यकर्ता ने उसे सलाह दी- 'आप रात को दही जमाती हैं तो क्या सारी रात उसमें उंगली डालकर देखती रहती हैं कि दही जमा है या नहीं? नहीं न? दही को जमने में एक रात चाहिए, उसी तरह नए माहौल में नई लड़की को अपनी तरह से तालमेल बिठाकर जमने दीजिए। वह अपने आप उसमें रचना-बसना सीख जाएगी।' दरअसल अधिकांश मां-बाप करते भी यहीं हैं। वह बार-बार रोती कलपती लौटती बेटी को सीख दे देकर, वापस उसी माहौल में रचने बसने के गुर सिखाकर भेज देते हैं।..... और एक दिन स्टोव फटने से उसके जल मरने की खबर पाकर पुलिस थाने और कोर्ट कचहरी के चक्कर काटते हैं, जिसका कोई परिणाम कभी नहीं निकलता। इसलिए मां-बाप का भावात्मक संबल बेटी की शादी के बाद और भी ज्यादा जरूरी हो जाता है, जो उसे गैरजरूरी तनावों और दबावों से अनावश्यक सामंजस्य और तालमेल बनाने पर मजबूर न करें।

जिस तरह आक्रामकता के खिलाफ एक आम औरत को यह बताकर तैयार किया जाता है कि वह पहली ही बार हिंसा के लिए उठे हुए हाथ को रोके। ढीला-सा प्रतिकार करना प्रकारांतर से उसे बढ़ावा देना ही है। यह बढ़ावा देकर वह अपना पूरा जीवन एक जल्लाद के हाथों सौंप देती है और अपने शरीर में ज़रा भी ताकत रहने तक पिटती ही रहती है। उसी तरह उपेक्षा, संवादहीनता या चुप्पी भी एक तरह की हिंसा ही है, जिसे मैं चुप्पी की हिंसा या सायलेंट वायलेंस का नाम दे रही हूं, और इसे भी कन्फ्रंट या कॉर्नर करने, सामना करने या घेरने की जरूरत है। एक पुरुष बरसों अपना खाली समय क्रॉसवर्ड करने या सूडोको के खाली चौकोर भरने या क्रिकेट के चौके छक्के निहारते हुए काट देता है और अपने परिवार में मां-बीवी-बच्चों से संवाद कायम करने की या तो जरूरत महसूस नहीं करता या हिटलरनुमा व्यवहार करता है तो निस्संदेह उसके आत्मकेंद्रित और निरंकुश स्वभाव को सामान्य व्यवहार की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। इस व्यवहार को बढ़ावा तभी मिलता है, जब इसे नजरअंदाज किया जाता है या इस पर सवाल नहीं उठाया जाता। एक छोटा सा उदाहरण उन दो कामगारों का है जिसमें से एक डांट सहता नहीं और फौरन जवाब दे देता है। मालिक उसके मुंह लगना नहीं चाहता। दूसरा, वह जो प्रतिकार नहीं करता और चुपचाप डांट सुनता रहता है। मालिक हर छोटी बड़ी गलती पर उसे इत्मीनान से दुत्कारता रहता है क्योंकि उसे पता है कि यही वह मोहरा है जिसे आसानी से पैर से ठोकर मारी जा सकती है।

एक घटना का जिक्र करना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा। मेरी एक मित्र की बेटी शादी के बाद अमेरिका चली गयी। विदेशों में भारत की तरह घर का काम करने के लिए मदद सहज उपलब्ध नहीं होती। यह लड़की शादी से पहले अच्छी खासी नौकरी करती थी पर शादी के दो साल बाद बच्चा होने पर उसे घर के सारे काम करने और बच्चे की देखभाल के बीच समय ही नहीं मिलता था। शादी के चार साल तक कोई छोटा सा काम भी पूरा न होने पर, उसे हमेशा यही सुनना पड़ता कि तुम सारा दिन करती क्या हो—यह कार्पेट/पर चावल का एक दाना क्यों पड़ा है, वॉश बेसिन के पास तौलिया क्यों नहीं है, कमीज ठीक से प्रेस क्यों नहीं की, आखिर तुम सारा दिन घर में करती क्या रहती हो। चार साल तक रोज यही राग अलापा जाता रहा।

अगले दिन जब पति काम से लौटा तो उसने देखा कि बिस्तर समेटा नहीं गया था, कपड़े मशीन में धोने के लिए डाले नहीं गए थे, खाना तैयार नहीं था, धुले हुए कपड़े आयरन बोर्ड पर वैसे ही पड़े थे, बर्तनों का ढेर वॉश बेसिन में पड़ा था। पति ने गरजते हुए कहा—“यह क्या तमाशा है, घर का ये हाल क्या बना रखा है?” उसने कहा— “आज मैंने सचमुच कुछ नहीं किया है, यही सारे काम मैं चार साल से चूँकि रोज़ करती आ रही हूँ, वे आपको दिखाई नहीं दे रहे थे।” यह अहसास पति को बिल्कुल नहीं होता कि घर गृहस्थी के कितने ढेर सारे काम हैं जो दिन का एक बड़ा हिस्सा ले लेते हैं।

होता यह है कि गृहिणियों के जीवन में पुरुष के धन उपार्जन करने का अर्थ उसकी वर्चस्ववादी भूमिका को स्वीकार करना है क्योंकि भारतीय परिवारों में घर का कार्यभार संभालने और घर चलाने की भूमिका को दोयम दर्जा दिया गया है और इसे पुरुष ही नहीं, घर की स्त्रियां भी सहमति देती हैं। एक गृहिणी घर को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए जिस सम्मान की हकदार है, वह उसे इसलिए नहीं दिया जाता क्योंकि इसके लिए उसने हक कभी जताया ही नहीं।

परिवारिक जीवन एक साहचर्य, तालमेल और सामंजस्य की मांग करता है, जिसमें पति और पत्नी दोनों की बराबर की हिस्सेदारी एक अनिवार्यता है। अगर यह स्थिति नहीं है, तो इसे बातचीत द्वारा या खुलकर इस समस्या के हर कोण पर समय रहते चर्चा की जानी चाहिए वरना जिन बच्चों का भविष्य संवारने के लिए एक

औरत अपनी पूरी जिन्दगी होम कर देती है, उसका सबसे बड़ा खामियाजा अन्ततः बच्चे ही भुगतते दिखाई देते हैं। वे डिप्रेशन से लेकर आत्महंता मनःस्थिति और ड्रग एडिक्शन तक के शिकार हो जाते हैं।

आर्थिक आत्मनिर्भरता बेशक प्रताड़ना की स्थिति में कोई बदलाव ला पाने में कारगर नहीं होती। पर इससे जीवन में निर्णय लेने और उन्हें कार्यान्वित करने की क्षमता जरूर बढ़ जाती है। बहुत से समीकरण इस आर्थिक आज़ादी के चलते बदल जाते हैं। आर्थिक रूप से सक्षम होने का एक मध्यवर्गीय औरत को यह लाभ जरूर मिलता है कि गैर बराबरी और मानसिक यातना से पैदा होती भीषण स्थितियों से जूझना उसके लिए थोड़ा आसान हो जाता है, जो आर्थिक रूप से पूरी तरह पति की कमाई पर आश्रित गृहिणी के लिए संभव ही नहीं है। जहाँ एक आम गृहिणी आर्थिक रूप से पराश्रित होने के कारण उपजी स्थितियों से या वैवाहिक जटिलताओं से पूरी तरह ढह जाती है और अपने को समेट पाना उसके लिए मुश्किल हो जाता है, वहीं आर्थिक आज़ादी के बूते पर, आत्मनिर्भर स्त्री के लिए हिंसा या पति के इतर संबंधों से उपजी जटिल स्थितियों के भीषण स्वरूप की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। वह अपने जीवन के नक्शे को फिर से अपने सामने फैलाकर सुनियोजित कर सकती है। मानसिक गुलामी से बाहर आना उसके लिए अपेक्षाकृत आसान होता है। उसके सामने चुनाव की सुविधाएं और जीने के विकल्प अधिक होते हैं। इसलिए आर्थिक आज़ादी हर औरत के लिए सम्मान के साथ जीने की पहली शर्त है।

इसके लिए सबसे पहली जरूरत इस बात की है कि एक औरत अपने ‘होने’ अपने ‘जीने’ को पहली प्राथमिकता दे। पति और बच्चों के प्रति अपनी पूरी जिम्मेदारी निभाते हुए भी हमेशा अपने लिए थोड़ी-सी स्पेस जरूर रखनी चाहिए।

आम तौर पर औरतें— इनमें भी बाहर के कार्यक्षेत्र से अलग घर के लिए अपना एक-एक पल होम करती गृहिणियां—अपने खुश होने और दुखी होने को पूरी तरह अपने पति से जोड़ देती हैं। अपने जीने के सारे अर्थ वे अपने प्रेमी पति पुरुष में तलाशती हैं। अपने ‘होने’ और सांस लेने का मूल्य समझने के लिए वे उसकी ओर देखती हैं, जिसके भावात्मक कोने में उनके लिए कोई जगह ही नहीं है। वे हर वक्त पति के मूड और भावभंगिमा की ओर नज़र टिकाए रहती हैं। अगर वह एक दिन चहक कर बात कर लेता है या नाराज़ नहीं होता तो पत्नी धन्य-धन्य हो जाती है। जिस दिन वह नाराज होकर या मुंह फुलाकर घर से निकल जाता है, पत्नी सारा

दिन उसकी अनुपस्थिति में भी उसके उपस्थित आक्रोश से संतुष्ट रहती है और उसके 'ठीक' होने की बात जोहती रहती है। भारतीय समाज की यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि एक औरत का सुखी या दुखी होना उसके अपने मूड पर निर्भर नहीं करता। उसकी खुशी या हताशा उसके पति के चेहरे का भाव तय करता है।

जिस दिन एक औरत यह समझ लेगी कि उसकी अपनी जिंदगी और उसके अपने मूड का भी एक मूल्य है, और इससे खेलने का अधिकार उस व्यक्ति को तो बिल्कुल नहीं है, जो उससे प्रेम नहीं करता, उस पर शासन और नियंत्रण करना चाहता है। इस समझ के बाद स्थितियां खुब-ब-खुद उलझी हुई गांठों को सुलझाने में कामयाब हो जाएंगी। वह जिस दिन अपने पति के इंगित से परिचालित होना बंद कर देगी और अपना एक स्वतंत्र दायरा-जिसकी पहली शर्त आर्थिक आत्मनिर्भरता है-गढ़ लेगी, जिस दिन वह अपने मन पर सिर्फ अपना नियंत्रण स्वीकार करेगी, स्थितियां ऊर्ध्वमुखी होने लगेंगी।

हमारी पीढ़ी की औरतें आज की युवा पीढ़ी की लड़कियों के लिए अक्सर चिंतित होती हैं कि आज तलाक की संख्या बहुत बढ़ गई है। क्या इस तरह विवाह संस्था के ही अस्तित्व को खतरा नहीं है? दरअसल हमारी पीढ़ी बहुत डरी हुई है क्योंकि उनकी स्पष्ट धारणा है कि तलाक के बाद एक लड़की को नीची निगाह से देखा जाता है। उसके लिए पुरुषप्रधान समाज में अकेले रहना बहुत आसान नहीं होता। अकेली लड़की को किराये पर घर नहीं मिलता। अकेली औरत को हर पुरुष गलत नज़र से देखता है जैसे उपलब्ध होने का बिल्ला उसकी पोशाक पर टंगा है। इसलिए पिछली पीढ़ी की औरतें सोचती हैं कि भूखे भेड़ियों की जमात में अकेले अपने को ससम्मान बचा कर रखना मुश्किल होगा इसलिए बेहतर है कि हम एक ही पुरुष की ज्यादातियां सह लें पर विवाह की शुचिता और सुरक्षित दायरे में बने रहें। दरअसल हम यह सोच ही नहीं पाते कि बराबरी और सौहार्दपूर्ण वातावरण में भी विवाह संबंध पनप सकता है जहां पति पत्नी दोनों एक दूसरे को सम्मान दें। प्रेम, समझदारी, बराबरी और सम्मान के साथ एक तनावरहित स्वस्थ संबंध जीवन को कितना तरल, कोमल और सुखद बना सकता है, यह हमारी कल्पना से बाहर हो गया है। हम ऐसे संबंध को भी प्यार का नाम दे देते हैं जहां एक पक्ष शासन करता है और दूसरा पक्ष नियंत्रण में रहता है। नियंत्रण और शासन तले दबे पक्ष का डर के साये तले रहना स्वाभाविक है। ऐसे में अगर युवा पीढ़ी की लड़कियां अपना पूरा

जीवन इस शासन और नियंत्रण के तले बिताने को अस्वीकार कर जीने का एक स्वतंत्र रास्ता तलाशती हैं तो तलाक की ओर उनके बढ़ते कदमों से खौफ़ खाने की जरूरत नहीं है। बराबरी और सम्मान की आकांक्षा की ओर बढ़ती इस ललक को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है।

पत्नी का व्यक्तित्व कुचलने के कुछ अस्त्र

- पत्नी को उसके मित्रों, परिचितों, रिश्तेदारों और सहायता समूहों से काट देना
- पत्नी को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने से रोकना
- पत्नी से ईर्ष्या करना या उसपर अधिकार जताना
- पत्नी पर अधिकार की भावना को अपने प्रेम का प्रतीक बताना
- उसे सेक्स करने के लिए बाध्य करना
- सबके सामने लगातार उसकी आलोचना करना
- उसे धमकाना, यातना देना और सज़ा देना
- उसपर नियंत्रण रखने के लिए बच्चों को हथियार बनाना
- सारे ज़रूरी निर्णय खुद लेना, महत्वपूर्ण विषयों पर उसकी राय न लेना
- अर्थ पर नियंत्रण रखना। घरेलू खर्च के लिए पर्याप्त पैसा न देना
- उस पर दूसरे पुरुषों से संबंध रखने का आरोप लगाना या उसे लेस्बियन करार देना

(यह आलेख अपने सक्षिप्त रूप में अंग्रेजी के अखबार "द हिंदू" 30 मार्च 2008 के मैगज़ीन सेक्शन में "द वायलेस ऑफ सायलेस" और "अंडर द क्लाउड अब्यूज" शीर्षक से तथा मराठी "साप्ताहिक सकाल" 10 मई 2008 में "मूक हिंसा" शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।)



रहोगी तुम वही

(एक)

‘क्या यह जरूरी है कि तीन बार घंटी बजने से पहले दरवाजा खोला ही न जाए? ऐसा भी कौन-सा पहाड़ काट रही होती हो। आदमी थका-माँदा ऑफिस से आए और पाँच मिनट दरवाज़े पर ही खड़ा रहे....’

....

‘इसे घर कहते हैं? यहाँ कपड़ों का ढेर, वहाँ खिलौनों का ढेर। इस घर में कोई चीज सलीके से रखी नहीं जा सकती?’

....

‘उफ़! इस बिस्तर पर तो बैठना मुश्किल है, चादर से पेशाब की गंध आ रही है। यहाँ-वहाँ पोटड़े सुखाती रहोगी तो गंध तो आएगी ही....कभी गद्दे को धूप ही लगवा लिया करो, पर तुम्हारी तो बारह महीने नाक ही बंद रहती है, तुम्हें कोई गंध-दुर्गंध नहीं आती।’

....

‘अच्छा, तुम सारा दिन यही करती हो क्या? जब देखो तो लिथड़ी बैठी हो बच्चों में। मेरी माँ ने सात-सात बच्चे पाले थे फिर भी घर साफ-सुथरा रहता था। तुमने तो दो बच्चों में ही घर की वह दुर्दशा कर रखी है जैसे घर में क्रिकेट की पूरी टीम पल रही है।’

....

‘फिर वही शर्बत! तुम्हें अच्छी तरह मालूम है—मेरा गला खराब है। पकड़ा दिया हाथ में ठंडा शर्बत। कभी तो अक्ल का काम किया करो। जाओ, चाय लेकर आओ....और सुनो, आगे से आते ही ठंडा शर्बत मत ले आया करो सामने....बीमार पड़ना अफोर्ड नहीं कर सकता मैं। ऑफिस में दम लेने की फुर्सत नहीं रहती मुझे....पर तुम्हें कुछ समझ में नहीं आएगा....तुम्हें तो अपनी तरह सारी दुनिया स्तो मोशन में चलती दिखाई देती है.....’

....

‘सारा दिन घर-घुसरी बनी क्यों बैठी रहती हो! खुली हवा में थोड़ा बाहर निकला करो। ढंग के कपड़े पहनो। बाल सँवारने का भी वक्त नहीं मिलता तुम्हें तो बाल छोटे करवा लो, सूरत भी कुछ सुधर जाएगी। पास-पड़ोस की अच्छी समझदार औरतों में उठा-बैठा करो।’

....

‘बाऊजी को खाना दिया? कितनी बार कहा है, उन्हें देर से खाना हजम नहीं होता, उन्हें वक्त पर खाना दे दिया करो....दे दिया है? तो मुँह से बोलो तो सही.....। जब तक बोलोगी नहीं, मुझे कैसे समझ में आएगा?’

....

‘अच्छा सुनो, वह किताब कहाँ रखी है तुमने? टेबल के ऊपर-नीचे सारा ढूँढ लिया, शेल्फ भी छान मारा। तुमसे कोई चीज ठिकाने पर रखी नहीं जाती? गलती की, जो तुमसे पढ़ने को कह दिया। अब वह किताब इस जिंदगी में तो मिलने से रही।..... तुम औरतों के साथ यही तो दिक्कत है। शादी हुई नहीं, बाल-बच्चे हुए नहीं कि किताबों की दुनिया को अलविदा कह दिया और लग गए नून-तेल-लकड़ी के खटराग में। पढ़ना-लिखना गया भाड़ में.....’

....

‘यह कोई खाना है! रोज़ वही दाल-रोटी-बैंगन-भिंडी और आ-लू। आलू के बिना भी कोई सब्जी होती है इस हिंदुस्तान में या नहीं? मटर में आलू, गोभी में

आलू, मेथी में आलू, हर चीज में आलू। तुमसे ढंग का खाना भी नहीं बनाया जाता। अब और कुछ नहीं करती हो तो कम-से-कम खाना तो सलीके से बनाया करो!..... जाओ एक महीना अपनी माँ के पास लगा आओ, उनसे कुछ रेसिपीज नोट करके ले आना। अम्मा तो तुम्हारी इतना बढ़िया खाना बनाती हैं, तुम्हें कुछ नहीं सिखाया? कभी चायनीज बनाओ, कांटीनेंटल बनाओ....खाने में वैरायटी तो हो....’

....

‘वह किताब ज़रूर ढूँढकर रखना, मुझे वापस देनी है। यह मत कहना—‘भूल गई’.....तुम्हें आजकल कुछ याद नहीं रहता....’

....

‘अब तो दोनों सो गए हैं, अब तो यहाँ आ जाओ। बस, मेरे ही लिए तुम्हारे पास वक्त नहीं है। और सुनो...बाऊजी को दवाई, देते हुए आना, नहीं तो अभी टेर लगाएँगे...’

....

‘आओ, बैठो मेरे पास! अच्छा, यह बताओ, मैंने इतने ढेर सारे प्रपोजल में से तुम्हें ही शादी के लिए क्यों चुना? इसलिए कि तुम पढ़ी-लिखी थीं, संगीत-विशारद थीं, गज़लों में तुम्हारी दिलचस्पी थी, इतने खूबसूरत लैंडस्केप तुम्हारे घर की दीवारों पर लगे थे।.....तुमने अपना यह हाल कैसे बना लिया? चार किताबें लाकर दीं तुम्हें, एक भी तुमने खोलकर नहीं देखी।....ऐसी ही बीवियों के शौहर फिर दूसरी खुले दिमागवाली औरतों के चक्कर में पड़ जाते हैं और तुम्हारे जैसी बीवियाँ घर में बैठकर टसुए बहाती हैं? पर अपने को सुधारने की कोशिश बिल्कुल नहीं करेंगी।’

....

‘तुम्हारे तो कपड़ों में से भी बेबी-फूड और तेल-मसालों की गंध आ रही है.....सोने से पहले एक बार नहा लिया करो, तुम्हें भी साफ-सुथरा लगे और.....।’

....

‘यह लो, मैं बोल रहा हूँ और तुम सो भी गई। अभी तो साढ़े दस ही बजे हैं, यह कोई सोने का वक्त है? सिर्फ घर के काम-काज में ही इतना थक जाती हो किसी और काम के लायक ही नहीं रहती.....’

दो

‘तुम्हारी आदतें कभी सुधरेंगी नहीं। पंद्रह साल हो गए हमारी शादी को, पर तुमने एक छोटी-सी बात नहीं सीखी कि आदमी थका-माँदा ऑफिस से आए तो एक बार की घंटी में दरवाजा खोल दिया जाए। तुम उस कोनेवाले कमरे में बैठी ही क्यों रहती हो कि यहाँ तक आने में इतना वक्त लगे? मेरे ऑफिस से लौटने के वक्त तुम यहाँ.....इस सोफे पर क्यों नहीं बैठती?’

....

‘अब यह घर है? न मेज़ पर ऐशट्रे, न बाथरूम में तौलिया....बस, जहाँ देखो, किताबें, किताबें, किताबें.... मेज़ पर, शेल्व पर, बिस्तर पर, कार्पेट पर, रसोई में, बाथरूम में....क्या अब किताबे ही ओढ़ें-बिछाएँ, किताबें ही पहनें, किताबें ही खाएँ?...’

....

‘यह कोई वक्त है चाय पीने का? खाना लगाओ। गर्मी से वैसे ही बेहाल हैं, आते ही चाय थमा दी। कभी ठंडा नींबू पानी ही ले आया करो।’

....

‘अच्छा, इतने अखबार क्यों दिखाई देते हैं यहाँ? शहर में जितने अखबार निकलते हैं सब तुम्हें ही पढ़ने होते हैं? खबरें तो एक ही होती हैं सबमें, पढ़ने का भूत सवार हो गया है तुम्हें। कुछ होश ही नहीं कि घर कहाँ जा रहा है, बच्चे कहाँ जा रहे हैं....’

....

‘यह क्या खाना है? बोर हो गए हैं रोज-रोज सूप पी-पीकर और यह फलाना-ढिमकाना बेकड और बॉयल्ड वेजीटेबल खा-खाकर। घर में रोज़ होटलों जैसा खाना नहीं खाया जाता। इतना न्यूट्रीशन कॉन्शस होने की जरूरत नहीं है। कभी सीधी-सादी दाल-रोटी भी बना दिया करो, लगे तो कि घर में खाना खा रहे हैं। आजकल की औरतें विदेशी नकल में हिंदुस्तानी मसालों का इस्तेमाल भी भूलती जा रही हैं।’

....

‘यह क्या है, मेरे जूते रिपेयर नहीं करवाए तुमने? और बिजली का बिल भी नहीं भरा? तुमसे घर में टिककर बैठा जाए, तब न! स्कूल में पढ़ाती हो, वह क्या काफ़ी नहीं है? ऊपर से यह समाज-सेवा का रोग भी पाल लिया अपने सिर

पर! क्यों जाती हो उस फटीचर समाज-सेवा के दफ्तर में? सब हिपोक्रेट औरतें हैं वहाँ। मिलता क्या है तुम्हें? न पैसा, न धेला! उल्टा अपनी जेब से आने-जाने का भाड़ा भी फूँकती हो।’

....

‘यह है तुम्हारे लाइले का रिपोर्ट कार्ड! फेल नहीं होंगे तो और क्या! माँ को तो फुर्सत ही नहीं है बेटे के लिए। अब मुझसे उम्मीद मत करो कि मैं थका-माँदा लौटकर दोनों को गणित पढ़ाने बैठूँगा। एम.ए. की गोल्ड मेडलिस्ट हो, तुमसे अपने ही बच्चों को पढ़ाया नहीं जाता? तुम्हें नया गणित नहीं आता तो एक ट्यूटर रख लो। अब तो तुम भी कमाती हो, अपना पैसा समाज-सेवा में उड़ाने से तो बेहतर ही है कि बच्चों को किसी लायक बनाओ। सारा दिन एम.टी.वी.देखते रहते हैं।’

....

‘यह तुमने बाल इतने छोटे क्यों करवा लिए हैं? मुझसे पूछा तक नहीं। तुम्हें क्या लगता है, छोटे बालों में बहुत खूबसूरत लगती हो? यू लुक हॉरिबल! तुम्हारी उम्र में ज्यादा नहीं तो दस साल और जुड़ जाते हैं। चेहरे पर सूट करें या न करें, फैशन जरूर करो।’

....

‘सोना नहीं है क्या? बारह बज रहे हैं। बहुत पढ़ाकू बन रही हो आजकल। तुम्हें नहीं सोना है तो दूसरे कमरे में जाकर पढ़ो। मेहरबानी करके इस कमरे की बत्ती बुझा दो और मुझे सोने दो।’

....

‘अब हाथ से किताब छोड़ो तो सही! सच कह रहा हूँ, मुझे गुस्सा आ गया तो इस कमरे की एक-एक किताब इस खिड़की से नीचे फेंक दूँगा। फिर देखता हूँ कैसे.....’

....

‘अरे कमाल है, मैं बोले जा रहा हूँ, तुम सुन ही नहीं रही हो। ऐसा भी क्या पढ़ रही हो, जिसे पढ़े बिना तुम्हारा जनम अधूरा रह जाएगा। कितनी भी किताबें पढ़ लो, तुम्हारी बुद्धि में कोई बढ़ोतरी होने वाली नहीं है। रहोगी तो तुम वही....’

●●

यह सूक्ष्म प्रताड़ना की ही कहानी है

पिछले आलेख 'जिसके निशान नहीं दीखते' में मानसिक यातना या 'इमोशनल अब्यूज' के बारे में जो कहा गया है, यह एकालाप कहानी उसी स्थिति को दर्शाती है। जरूरी नहीं कि वह पति ही हो। कई मध्यवर्गीय भारतीय परिवारों में बेटों को वरीयता देते हुए बेटों को हर गलत काम के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है, उसके लिए किसी काम को शाबाशी मिलना तो दूर की बात, उसे बात-बेबात हर चीज पर उलाहने दिए जाते हैं, उस पर वाक्बाण बरसाए जाते हैं। एक लड़की की जिन्दगी जन्म से ही हिदायतों, मनाहियों और उलाहनों से सराबोर रहती है। उसे बार-बार यह याद दिलाया जाता है कि वह लड़की है और उसे जीवन के सामान्य खेलकूद, हंसी ठट्ठे से भी वर्जित किया जाता है।

सतही तौर पर देखने पर यह कहानी, हास्य-व्यंग्य की छटा बिखेरती हुई, एक पति के औसत संवादों की ओर रोजमर्रा की स्थितियों की कहानी लग सकती है पर एक औरत की जिन्दगी में इसके कितने दूरगामी घातक परिणाम हो सकते हैं, यह भी चिंतन का मुद्दा है। वैज्ञानिक मानक का आधार लें तो यह माना हुआ तथ्य है कि कान से सुनने और दिमाग तक उस आवाज के पहुंचने के हिस्से के साथ-साथ ही

सोचने-समझने यानी प्रज्ञा का हिस्सा जुड़ा है। घर के किसी व्यक्ति का निरंतर कानों पर ध्वनि का प्रहार करते रहना, सुनने वाले व्यक्ति के सोचने समझने और विश्लेषण करने की क्षमता को कुंद करता है। पिछले आलेख की बात को यहां दोहराया जा सकता है कि दिमाग पर निष्क्रिय होने की चोट अन्ततः दिमाग को निष्क्रिय और संज्ञाहीन बनाकर ही छोड़ती है।

अगर मुझे अपनी अब तक की लिखी, चार दशकों के अंतराल में फैली कहानियों में से एक प्रिय कहानी चुनने के लिए कहा जाए तो मैं इस कहानी को बेहिचक चुन लूंगी। इसके पीछे बहुत से कारण हैं। एक सीधा कारण तो यही कि बारह साल की लम्बी चुप्पी के बाद मैंने यह कहानी लिखी थी। कई बार लेखक के मानसिक अवरोध के चलते कलम ठंडे बस्ते में चली जाती है। यह अवरोध हर लेखक के जीवन में कभी न कभी आता है पर मेरे जीवन में कुछ लम्बा ही खिंच गया। सन् 1980 के बाद लगभग बारह-तेरह सालों की चुप्पी के बाद मैंने 1993 में एक कहानी लिखी- 'रहोगी तुम वही'। बारह साल का लंबा मौन एक लेखक के लेखकीय आत्मविश्वास को खंड-खंड बिखेरने के लिए काफी होता है। इस बेहद छोटी-सी चार पन्नों की कृशकाय कहानी में वह मौन खुलकर सामने आ गया है। यह कहानी एक लम्बे अरसे तक मेरे ज़ेहन में रही, पर इस बेहद सामान्य सी दिखनेवाली थीम के लिए मुझे कहानी का फॉर्मट नहीं मिल रहा था- संभवतः नैरेटिव स्टाइल में इसे लिखा भी नहीं जा सकता था। बेशक इसके एकालाप संवाद के बारे में कहा जा सकता है कि यह और कुछ भी हो, कहानी नहीं है। बहरहाल, यह जो भी है, मुझे लगता है, अपनी बात पहुंचाने के लिए यही एक फॉर्मट कारगर बन पड़ा है।

कहानी लिखने के बाद एक स्थानीय लघु पत्रिका के सम्पादक को भेजी, जिन्होंने कहानी पढ़कर कुछ कुढ़ते हुए कहा- "क्या औरतें बोलती ही नहीं है, यह तो बड़ी एक तरफा कहानी है।" फिर कुछ तंज से कहा- "एक कहानी ऐसी भी लिखिए जहां औरत बोलती है और आदमी चुप रहता है।" मैंने उनसे अनुरोध किया- "आप बिल्कुल सही कह रहे हैं। इस कहानी को वापस भेज दें। मैं आपको दूसरी भेजती हूँ।" फिर इस कहानी को मैंने 'हंस' के लिए संपादक राजेंद्र यादव को भेजा। उन्होंने अगले ही अंक में इसकी घोषणा कर दी और जून 1994 के अंक में यह कहानी अंक की पहली कहानी के रूप में बड़ी प्राथमिकता से प्रकाशित की गई। कहानी छपते ही चर्चा में आ गई। फिर अभिव्यक्ति वेबसाइट पर आते ही कई विदेशी भाषाओं में नुक्कड़ नाटक के रूप में इसका अनुवाद कर इसे खेला गया जिसने इस

स्थापना को रेखांकित कर दिया कि यह सिर्फ भारतीय परिवेश की कहानी नहीं, यह वैश्विक समस्या है। लन्दन के एक एक्सपेरिमेंटल ग्रुप ने भी इसे अंग्रेजी में खेला। अभिनेता सर्द जाफरी ने लन्दन के नेहरू सेंटर में इस कहानी का अभिनय पाठ किया। डॉ. दागमार मारकोवा ने इसका नाटक बनाकर चेक भाषा में अनुवाद किया। तूरीन, इटली की अलस्सांद्रे ने इंटरनेट से निकालकर इसे इतालवी भाषा में खेला। मुंबई की चौपाल में अभिनेता राजेंद्र गुप्ता ने कई बार इसे अपने खास अंदाज में सुनाया।

इस कहानी को हालांकि पुरुष वर्ग ने खूब सराहा और जब भी इस कहानी का नुक्कड़ नाटक किया गया या मंच पर इसे पढ़ा गया- कई पुरुषों की यह बेबाक प्रतिक्रिया थी कि यह कहानी हमें आईना दिखाती है, लेकिन कुछेक पुरुषों की उग्र आपत्तियां भी सुनाई दीं कि क्या बोलने वाला पक्ष हमेशा सिर्फ पुरुष का ही होता है? क्या औरतें बोलती ही नहीं हैं? यह इकतरफा कहानी है।

दरअसल यह कहानी पुरुष के लगातार बोलने और औरत के चुप रहने की कहानी है भी नहीं। इसमें हर संवाद के बीच 'रीडिंग बिटवीन द लाइन्स' की पर्याप्त गुंजाइश है। यह कहानी स्त्री के बदलने की और पुरुष के स्वभाव की यथास्थिति की कहानी है। शीर्षक 'रहोगी तुम वही' के विशेषण के बावजूद स्त्री तो बदल रही है, पुरुष अब तक सामंती है। ज़रूरत तो उसके बदलने की है। वह कब बदलेगा? यह सवाल चिरंतन है।

एक नई युवा कवयित्री नीलिमा दूबे की कविता है—

मैं घर में रहती हूँ
तो वे कहते हैं, किसी काम की नहीं है,
कुछ नहीं करती,
आलसी है,
बैठकर खाने में
शर्म नहीं आती इसे।
अब मैं कमाने लगी हूँ
बाहर आती जाती हूँ
तो वे कहते हैं

बेशर्म-बेहया है,
समय का ध्यान नहीं रहता इसे,
घर से मतलब कहां है
यह अब उड़ने लगी है,
इसके पर कतरने पड़ेंगे।



सत्ता-संवाद

‘आ गये? यह लो खाली हाथ झुलाते चले आए। मैंने कुछ लाने को कहा था? याद नहीं रहा। कोई नई बात है? याद रहता कब है? अब मैं बाहर भी करूँ और घर का सारा जंजाल भी सँभालूँ। मरने दो, मुझे क्या पड़ी है। मैं भी नहीं जाती! चलने दो, घर जैसे चलता है।’

....

‘चप्पलें अंदर कहाँ लिए जा रहे हो? सारी दुनिया की धूल-मिट्टी कमरे में फैला दी। चप्पलें दरवाजे पर उतारी नहीं जाती? पैरों में मिट्टी लिथड़ती रहे, तुम्हें क्या.....आज कामवाली भी नहीं आई है पर तुम्हें क्या फर्क पड़ता है। घर गंदा रहे, साफ रहे.....तुम्हारी बला से। हर काम के लिए मैं ही मरती खपती रहूँ....’

....

‘इन उखड़ी हुई चप्पलों को पहनना बहुत अच्छा लगता है क्या? दस दिन से देख रही हूँ, पैर घसीट-घसीटकर चल रहे हो। दो मिनट मोची के पास खड़े होकर गँठवा भी नहीं सकते? सारा दिन कॉफी हाउस में पड़े सिगरेटें फूँक-पूँक कर दर्शन बघारते रहते हो। कॉफी हाउस के बाहर ही तो मोची बैठा रहता है, पर नहीं, क्यों

गँठवाओ चप्पल। फटी-टूटी चप्पल पहनने में जो शान है, वह दुरुस्त चप्पल पहनने में कहाँ।’

....

‘बेटा भी वही रंग-ढंग सीख रहा है। कपड़े धुलाई में डालता ही नहीं। महीने-भर से एक ही जींस और हवाई चप्पल चटखाता घूम रहा है। शोव भी नहीं करता। मैले कपड़े लादे रहने में ही शान समझता है। पिता पर पूत....आखिर बेटा किसका है।....एक मैं ही हूँ जिसे लोक-लाज निभानी पड़ती है। वही दो-चार सूती साड़ियाँ धो-सुखाकर कलफ़ लगाकर पहनती हूँ, उस पर भी दोनों बाप-बेटे आँखे फाड़े देखते रहते हो...जैसे बड़ा सज-सँवरकर निकल रही हूँ।....मैं भी तुम दोनों की तरह हाथ-पर-हाथ धरे फटेहाल पड़ी रहूँ तो जो चार पैसे घर में आते हैं, उसके भी लाले पड़ जाएँ।....पर तुम्हें क्या...तुम्हें तो बैठे-ठाले रोटियाँ...’

....

‘वाह, थाली सरकाकर उठ गए? इस उम्र में भी नखरे दिखाने बाकी रह गए हैं? पकाऊँ भी मैं और उगाऊँ भी मैं? तुमसे तो रास्ते से एक सब्जी उठाकर नहीं लाई जाती। थैला हाथ में लेते हुए शर्म आती है। जब खाना खाने में किसी को शर्म नहीं आती तो लाने में कैसी शर्म! दो-एक बार खुद खरीदकर लाओ तो पता भी चले कि सब्जी-भाजी के भाव कहाँ जा रहे हैं। अब खाली मेरी कमाई से तो घर में छत्तीस पकवान बनने से रहे। भगवान का शुक्र है कि दो वक्त की रोटी जुट जाती है, किसी के आगे हाथ पसारने नहीं पड़ते वरना तुमने तो उसके लिए भी कोई कसर बाक्री नहीं छोड़ी थी.....’

....

‘अच्छा, यह बताओ, मेरी साड़ी कामवाली को किसने दी? मैं हफ्ता-भर बाहर क्या गई, तुमने बड़ी दरियादिली से घर का सामान जिसे-तिसे लुटा डाला! पानी भरने वाला घाटी तुम्हारी टी-शर्ट पहन रहा है, बाहर डोलता पगला बाबा तुम्हारा कुरता-पाजामा लटकाये घूम रहा है। अपने तो अपने, मेरे कपड़े भी बाँट दिए! खुद फटे चिथड़े पहनो और कपड़े दीन-दुखियारों में बाँटते फिरो। पूरे मुहल्ले में एक तुम ही दाता-दानी रह गए हो....’

....

‘बस, घुस गए अपने दड़बे में! एक तुम और एक तुम्हारी बाबा आदम के जमाने की मेज़, जिस पर कहने को दो दर्जन पेन रखे हैं पर कभी हिसाब करने को हाथ में लो तो एक भी चलता नहीं। सबकी स्याही सूखी पड़ी है। इस घर का सूखा

हर जगह व्याप गया है....’

....

‘लो, पड़ गए किताबों में सिर डाल के! सच को बर्दाश्त करना बहुत मुश्किल होता है पर जिस पर बीतती है, सच उसी के मुँह से निकलता है। तुममें तो सच सुनने का माद्दा ही नहीं रहा कभी। वैसे बड़ा सच लिखने का दंभ करते हो। बड़ी तीखी सच्चाइयाँ उँड़ेलते हो अपनी कलम से। हिपोक्रेट हो तुम सब। जितने झूठे तुम सब लिखनेवाले हो, शायद ही दुनिया का कोई आदमी इतना झूठ बोलता हो। और तुराँ यह कि सच्चाई का सेहरा भी अपने ही सिर सजाए फिरते हो...’

....

‘दरवाजा बंद कर लेने से मेरी आवाज बंद नहीं हो जाएगी, यह याद रखना। कमरा बंद करके लिखो फूल और पत्तियों की कविताएँ। करो आसमान, सूरज, चाँद सितारे और समन्दर की बातें। लताड़ो राजनेताओं और भ्रष्टाचारियों को और लूटो वाहवाही। घर तो अपना सँभाला नहीं जाता, दुनिया-जहान की हाँकते हो। अरे, बेटे को ही बैठकर कुछ पढ़ाया होता तो आज वह भी तुम्हारी तरह नाकारा न डोलता। अपनी ही दुनिया में कैद रहे ज़िंदगी-भर और दो-दो ज़िंदगियाँ बरबाद कीं। मैंने तो तुम्हारे साथ जैसे-तैसे निवाह लिया पर इसकी बीवी दो दिन में इसे छोड़ न गई तो कहना।..... पर तुम्हें क्या! अपने दड़बे में बंद होकर कागज काले करते रहना...’

....

‘कभी-कभी अफसोस होता है....घर में हम तीन प्राणी और चार कोने। सब एक-दूसरे से कटे हुए और अलग-थलग। बाप-बेटे के स्वभाव में राई-रत्ती का फर्क नहीं पर रिश्ते में छत्तीस का नाता हैं। मुझे तो याद नहीं आता कि कभी तुम दोनों ने बैठकर आपस में कोई सलाह-मशवरा किया हो। कोई बात करने बैठे नहीं कि बहस शुरू हो जाती है। अरे, बेटा बड़ा हो जाए तो दोस्त से बढ़कर होता है। कितना चाहती थी मैं कि तुम दोनों दोस्तों की तरह रहो। यह बात कहो तो आग लग जाती है तुम्हें। कहते हो, मैंने ही उसे तुम्हारे खिलाफ भड़काया है। और सुनो, मैं क्यों भड़काऊँगी भला। मुझे क्या पड़ी है। उसके क्या आँख-कान नहीं हैं? देखता-समझता नहीं कि घर में कैसे मेहमानों की तरह रहते हो? घर न हुआ होटल हो गया तुम्हारे लिए, बल्कि मैं तो कहूँ, जैसे वह मेरे साथ पेश आता है, सब तुमसे ही सीखा है उसने, और क्या। न तुमने मुझसे कभी प्यार के दो बोल बोले, न उससे। वह जमाना गया। जब हथेलियों में उसका सिर लेकर उसे लोरियाँ सुनाया करते थे। हाय....उस बच्चे को वही दो-चार महीने गोद में उठाया तुमने। होश सँभालने के बाद

तो तुम्हारी नफरत ही झेली उसने। बीस साल का होने वाला है। पर कभी जो उसके हाथ में बीस रुपए भी थमाये हों तुमने कि ले बेटा, पाव-भाजी खा लेना....’

‘पता नहीं जो भी थोड़ा-बहुत कमाते हो, जाता कहाँ है। मुझे तो पता भी नहीं कितना पैसा मिलता है तुम्हें। जब तो हमेशा खाली ही रहती है...’

....

‘यह लो, एक और प्रेमपत्र! इस उम्र में भी तुम्हारी जब से प्रेमपत्र ही निकलते हैं। भूखे भजन हो न हो, इश्कबाज़ी तो हो ही सकती है। बेटा शादी की उम्र पर आ रहा है और इश्क बाप को चढ़ा है। पता नहीं, ये तुमसे आधी उम्र की लड़कियाँ क्या देखती हैं तुममें। सब अक्वल दर्जे की बेवकूफ होती हैं। मरती हैं तुम्हारी हवाई कविताओं पर। उन्हें क्या मालूम कि इन कविताओं को गूँथकर दो वक्त की रोटी नहीं पकाई जा सकती। तुम्हारे झोले और दाढ़ी पर मरती हैं। तुम्हारे साथ रहकर देखें। दो दिन में आटे-दाल का भाव न पता चल गया तो कहना। बड़ी हवा में उड़ती फिरती हैं.....’

....

‘मैं भी कितनी पागल हूँ। यह सब मैं कह रही हूँ। मैं....जो खुद इतनी पागल थी। आज से पच्चीस साल पहले....याद करूँ तो दिल दहल जाता है। तुम्हारे प्यार में मरने-मिटने पर उतारू थी। लगता था, दुनिया का हर रास्ता सिर्फ तुम तक जाता है। तुम्हारे खतों की एक-एक लाइन मुझे जबानी याद थी। तुम्हारे एक-एक खत को पच्चीस बार पढ़ती थी मैं। तुम्हारी खूबसूरत हैंडराइटिंग की घंटों तक किये करती थी। तुम्हारी दाढ़ी में मुझे ईसामसीह नजर आता था। कंधे पर झोला टाँगे हुए तुम मुझे दुनिया के सबसे सुंदर इंसान दिखाई देते थे।..... कितनी पागल थी मैं। सोचती थी, तुम मिल जाओ मुझे तो बस और कुछ नहीं चाहिए। शादी हुई नहीं कि सारे टेक्नीकलर सपने काले-सफेद हो गए। साल-भर की नून-तेल लकड़ी में सब हवा हो गया। घर के खटराग में मेरे तो बाल सफेद हो गए पर तुम नहीं बदले। रहे मजनुँ-के-मजनुँ ही।.....’

....

‘कमाल है, एक हफ्ते से ट्यूबलाइट खराब पड़ी है, किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता। अढ़ाई तो कमरे हैं, उसमें से एक में रोशनी नहीं। वैसे ट्यूबलाइट ठीक हो भी जाए तो कौन सा अँधेरा दूर होनेवाला है। भला है, बैठे रहो अँधेरे में ही।....’

....

‘उफ, बिजली का बिल भी नहीं भरा तुमने। टेलीफोन तो कट ही गया है,

बिजली भी कट जाएगी। पर तुम्हें क्या। कहोगे, इस औरत का दिमाग चल गया है, सारा दिन बड़बड़ाती रहती है। तुम्हारे साथ बाईस साल जैसे मैंने काटे हैं, कोई भी औरत पागल हो जाएगी। तुम तो घर में बैरागी से रहते हो। अब मैं स्कूल से आधी छुट्टी लेकर जाऊँ बिजली का बिल भरने। हमेशा यही होता है। मैं भी कितनी बेवकूफ हूँ कि अब भी तुमसे कुछ उम्मीद रखती हूँ। मुझे अब तक समझ लेना चाहिए था कि तुम....। छोड़ो, तुम्हें कोस-कोसकर अपनी जबान क्यों खराब करूँ.....'

....

‘अब फिर झोला उठाकर कहाँ चल दिए? यह खाना जो थाली में छोड़कर उठ गए हो, कौन खाएगा? मत समझना कि मैं इतनी पतिव्रता हूँ कि तुम्हारी जूठी थाली में खाकर अपना जनम सकारथ समझूँगी। तुम्हें खाने की क्या कद्र होगी। खुद कमाते-धमाते तो पता चलता कि झोला लेकर बड़ी-बड़ी फिलॉसफ़ी हाँकने से घर का चूल्हा नहीं जलता, उसके लिए सुबह से शाम तक हड्डियाँ गलानी पड़ती हैं, तब जाके.....लेकिन तुम पर किसी बात का कोई असर नहीं होता....पता नहीं कौन-सी मिट्टी के बने हो....’

....

‘अब जा ही रहे हो तो अपना यह प्रेमपत्र लेते जाओ। याद रखना, मुझसे कुछ छिपा नहीं हैं। इसे कह दो, आने को तैयार है तो मेरी ओर से कोई रुकावट नहीं। आए, सँभाले तुम दोनों को। मेरी जान छूटे। बाइस सालों में यूँ भी कितनी जान बाकी रह गई है.....’

....

‘इसलिए नहीं खाने बैठी तुम्हारी थाली में कि पति-परमेश्वर की जूठन का भोग लगाऊँ। अपनी कमाई का दर्द मुझे नहीं होगा तो क्या तुम्हें होगा? -भरी थाली छोड़कर झोला उठाया और चल दिए।.....’

....

‘लेकिन जाओगे कहाँ? देर-सवेर यहीं आओगे.....खाली हाथ झुलाते.....’



अर्थसत्ता के कंधों पर चढ़कर ही चुप्पी टूटती है!

कहानी लिखना मेरे लिए शौक या रोज़मर्रा की रूटीन का हिस्सा नहीं है। किसी भी कहानी को लिखना मैं तब तक टालती रहती हूँ, जब तक कहानी के पात्र मेरे दिमाग में इतनी खलबली न मचा दें कि खुद ब खुद कागज पर उतरने को आमदा हो जाएँ और उन्हें अपने भीतर समेटकर रख पाना मेरे लिए असुविधा का बायस बने। मेरे यहां बाकायदा सोची समझी, सूझ बूझ और योजना या किसी संपादक की मांग के तहत लिखी गयी कहानियाँ उंगलियों पर गिनी जाने लायक ही हैं।

इस श्रेणी में जो कहानियाँ आती हैं, ‘सत्ता संवाद’ उंगलियों पर गिनी जाने लायक उन्हीं चंद एक कहानियों में से ही है। ‘रहोगी तुम वही’ के पूरक के रूप में कहानी ‘सत्ता संवाद’ फिर से संवाद शिल्प में लिखी गई। ‘सत्ता संवाद’ को ‘रहोगी तुम वही’ कहानी का विस्तार माना जा सकता है जहां एक कमाऊ औरत बोल रही है और उसका कवि-कलाकार पति चुप है। सब औरतें नहीं बोलतीं, नहीं बोल सकतीं। इस कहानी पर एक लेखक की बेटी ने बहुत सटीक प्रतिक्रिया दी थी। उसने अपने पापा से कहा कि जो घर चलाकर स्वयं खटकर निखट्टुओं को खिलाएगी, वह बोलेगी भी। यह खटकर खिलाना ही उसके बोलने का आधार है, कारण है। औरत

सिर्फ़ तभी बोलती है, जब उसके पास अर्थ की ताकत, अर्थसत्ता हो। आखिर हर समाज में वर्चस्व का निर्धारण अर्थसत्ता से ही होता है। स्त्री का आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना ही सामाजिक बदलाव की पहली शर्त है, उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता से बहुत सारे समीकरण बदल जाते हैं। स्त्री का आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना उसमें आत्मविश्वास ही नहीं जगाता, उसमें गलत को गलत कहने की ताकत भी पैदा करता है। पर स्त्री हो या पुरुष, कोई भी पक्ष अगर नियंत्रण करना चाहेगा तो पारिवारिक संगति (हारमनी) में असंतुलन होना स्वाभाविक है।

इस कहानी में हरफनमौला कलाकार मिजाज का पति दिखाया है कि घर की जिम्मेदारियों से परे अपनी ही हवाई दुनिया में रहता है। पति पत्नी के रिश्ते में, जहां एक पक्ष दूसरे को दोषी ठहराता है तो लांछन के बायस हमेशा बच्चे होते हैं। बच्चे साँझा होते हैं पर दोनों पक्ष बच्चों के मामले में एक दूसरे पर तोहमत लगाने से बाज नहीं आते। 'रहोगी तुम वही' में पति इसकी जिम्मेदारी पत्नी पर डालता है और 'सत्ता संवाद' में पत्नी पति पर।

कथाक्रम : जनवरी-मार्च 2003 में जब कहानी 'सत्ता संवाद' प्रकाशित हुई, मेरी अग्रज और आत्मीय मित्र मन्नू भंडारी का फोन आया— "सुधा, तुम्हारी कहानी पढ़कर तो मुझे अपना समय याद आ गया। लगा, जैसे तुमने मेरे ही संवाद लिख दिए हैं। कई बार राजेन्द्र को मैं कड़वाहट में बहुत कुछ बोल जाती थी, मेरी जबान पर छुरी कांटे उग आते थे। मैं तो अपने को ही इस कहानी में देख रही हूँ।" मुझे तसल्ली हुई। मेरा काल्पनिक पात्र हकीकत में बदल गया था, इससे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती है एक कहानी की?

दरअसल इस कहानी में सहानुभूति का पात्र पुरुष है, स्त्री तो हास्यास्पद होने की स्थिति तक बड़बड़ाती है। फिर भी यह आरोप अगर मुझ पर लगाया गया कि जहां सिर्फ़ पुरुष बोलता है— वहां भी लेखिका की पक्षधरता स्त्री के साथ है और जहां स्त्री बोलती है, वहां भी पुरुष बहुत सहानुभूति का पात्र नहीं बनता, तो संभवतः यह आरोप सही हो। यह स्त्री के प्रति मेरा पक्षपातपूर्ण रवैया है, इसके लिए मैं दोषी हूँ।



डेजर्ट फोबिया उर्फ समुद्र में रेगिस्तान

दिन, हफ्ते, महीने, साल.....लगभग पैंतीस सालों से वे खड़ी थीं—खिड़की के आयताकार फ्रेम के दो हिस्सों में बँटे समुद्र के निस्सीम विस्तार के सामने—ऐसे, जैसे समुद्र का हिस्सा हों वे। हहराते-गहराते समुद्र की उफनती पछाड़ खाती फेनिल लहरों की गतिशीलता के बीच एकमात्र शांत, स्थिर और निश्चल वस्तु की तरह वे मानो कैलेंडर में जड़े एक खूबसूरत लैंडस्केप का अभिन्न हिस्सा बन गई थीं।

'आंटी, थोड़ी शक्कर चाहिए।' दरवाजे की घंटी के बजने के साथ सात-आठ साल के दो बच्चों में से एक ने हाथ का ख़ाली कटोरा आगे कर दिया।

बच्चों की आँखों के चुंबकीय आकर्षण से उन्होंने आगे बढ़कर ख़ाली कटोरा लिया, खुद रसोई में जाकर उसे चीनी से भरा और लाकर उन्हें थमा दिया।

'सँभालना।' उन्होंने हल्की-सी मुस्कान के साथ एक का गाल थपथपाया और जिज्ञासु निगाहों से देखा। पूछा कुछ नहीं।

'वहाँ।' बच्चों ने आंटी की मोहक मुस्कान में सवाल पढ़ पड़ोस के फ्लैट

की ओर इशारा किया, जो किसी बड़ी कंपनी का गेस्ट हाउस था, 'वहाँ अभी आए हमलोग!'

'दुबा-ई' से 'विदेशी अंदाज में 'आ' को खींचते हुए बड़ी लड़की ने कहा।

पीछे से नाम की पुकार सुनकर एक ने दूसरे को टोका। लौटते बच्चों की खिलखिलाहट को वे एकटक निहारती रहीं। एक खिलखिलाहट पलटी—'थैंक्यू आंटी।' उन्होंने स्वीकृति में हाथ उठाया और बेमन से मुड़ गई। खिड़की की ओर। उनके पीछे-पीछे हवा में 'थैंक्यू आंटी' के टुकड़े तिर रहे थे।

तीस साल पहले समुद्र ऐसा मटमैला नहीं था। चढ़ती दुपहरी में वह आसमान के हलके नीले रंग से कुछ ज्यादा नीलापन लिए दिखता। आसमानी नीले रंग से तीन शेड गहरा। लगता, जैसे चित्रकार ने समुद्र को आँकने के बाद उसी नीले रंग में सफेद मिलाकर ऊपर के आसमान पर रंगों की कूची फेर दी हो। आसमान और समुद्र को अलग करती बस एक गहरी नीली लकीर। डूबता सूरज जब उस नीली लकीर को छूने के लिए धीरे-धीरे नीचे उतरता तो लाल गुलाबी रंगों का तूफान-सा उमड़ता और वे सारे काम छोड़कर उठतीं और कूची लेकर उस उड़ते अबीर को कैनवास पर उतारती रहतीं—एक दिन, दो दिन, तीन दिन। तस्वीर पूरी होने पर खिड़की के बाहर की तस्वीर का अपनी तस्वीर से मिलान करतीं और अपनी उँगलियों पर रीझ जाती। उन्हें थाम लेते ऑफिस से लौटे साहब के मजबूत हाथ और उनकी उँगलियों पर होते साहब के नम होंठ।

दस साल बाद एक दिन अचानक जब गर्मी की छुट्टियाँ खत्म होने पर, बच्चे वापस पंचगनी के हॉस्टल लौट गए, उन्हें समुद्र बदरंग-सा नीला लगा, जिसमें जगह-जगह नीले रंग के धुंधलाए चकते थे। खिड़की के बाहर दिखाई देता समुद्र पहले से भी ज्यादा विस्तारित था। वैसा ही अछोर विस्तार उन्हें अपने भीतर पसरता महसूस हुआ। उनका मन हुआ कि उस सपाट निर्जन असीम विस्तार पर घर लौटते हुए पक्षियों की एक क्रतार आँक दें, जिनके उड़ने का अक्स समुद्र की लहरों पर पड़ता हो। उन्होंने पुराने सामान के जखीरे से कैनवास और कूची निकाली, पर कैनवास सख्त और खुरदुरा हो चुका था और कूची के बाल सूखकर अकड़ गए थे। वे बार-बार खिड़की के बाहर की तस्वीर को बदलने की कोशिश करती, पर उस कोशिश को हर बार नाकाम करता हुआ समुद्र फिर समुद्र था—जिद्दी, भयावह और

खिलंदड़ा।

खिलंदड़े समुद्र के किनारे-किनारे कुछ औरतें 'प्रेम' में बच्चों को घुमा रही थीं। एक युवा लड़की के कमर में बँधे पट्टे के साथ बच्चे का करियर नत्थी था, जिसमें बच्चा बैदरिए के बच्चे की तरह माँ की छाती से चिपका था।

'मुझे अपना बच्चा चाहिए' साहब की बाँहों के घेरे को हथेलियों से कसते हुए उनके मुँह से कराह-सा वाक्य फिसल पड़ा।

साहब के हाथ झटके से अलग हुए और बाएँ हाथ की तर्जनी को उठाकर उन्होंने बरज दिया। फ्रेम में जड़ी हुई तीनों बच्चों की हँसी के साथ साहब की तर्जनी की हीरे की अँगूठी की चमक इतनी तेज़ थी कि वे कह नहीं पाई कि उनका बचपन कहाँ देखा उन्होंने। वे तो जब ब्याह कर इस घर में आई तो दस आठ और छह साल के तीनों बेटों ने अपनी छोटी माँ का स्वागत किया था और वे दहलीज लाँघते ही एकाएक बड़ी हो गई थी।

वह अपने दसवें माले के फ्लैट की ऊँचाई से सबको तब तक देखती रहीं, जब तक समुद्र की पछाड़ खाती लहरें उफन-उफनकर ज़मीन से एकाकार नहीं हो गईं। सबकुछ गड्डमड्ड होकर धुँआ-धुँआ-सा धुँधला हो गया।

न जाने कब वह खिलंदड़ा समुद्र एकाकी और हताश रेगिस्तान में बदल गया। वे खिड़की पर खड़ी होतीं तो उन्हें लगता-उनकी आँखों के सामने हिलोरें लेता समुद्र नहीं, दूर-दूर तक फैला खुश्क रेगिस्तान है। यहाँ तक कि वे अपनी पनियाई आँखों में रेत की किरकिरी महसूस करती वहाँ से हट जातीं।

'तुम्हें डेजर्ट फोबिया हो गया है।' साहब हँसते हुए कहते, 'इसका इलाज होना चाहिए।'

साहब को अचानक एक दिन दिल का दौरा पड़ा और वह उनका अतीत बन गए। पीछे छोड़ गए—बेशुमार जायदाद और तीन जवान बेटे। उतने ही अचानक उन्होंने अपने को कोर्ट-कचहरी के मुकदमों और कानूनी दाँवपेचों से घिरा पाया।

तीनों बेटों के घेरने पर उन्होंने कहा कि उन्हें साहब की जमा पूँजी, फार्म हाउस और बैंक बैलेंस नहीं चाहिए, सिर्फ यह घर उनसे न छीना जाए। उन्हें लगा, उनके जीने के लिए यह रेगिस्तान बहुत जरूरी है। घर उन्हें मिला पर बच्चे छिन गए। तीनों बेटे अब विदेश में थे और ज़मीन-जायदाद की देख-रेख करने साल-छमाही

आ जाते थे, पर आकर छोटी माँ के दरवाजे पर दस्तक देना अब उनके लिए जरूरी नहीं रह गया था। उन्हें पता ही नहीं चला, कब वह धीरे-धीरे खिड़की के चौकोर फ्रेम में जड़े लैंडस्केप का हिस्सा बन गई।

‘आंटी, हमलोग आज चले जाएँगे—वापस दुबाई’ वैसे ही ‘आ’ को खींचते हुए बड़ी लड़की ने कहा, ‘हमारे ग्रैंड पा मतलब नाना हमें लेने आए हैं। चलिए हमारे साथ, उनसे मिलिए।’ बच्चों ने दोनों ओर से उनकी उँगलियाँ थामीं और उनके मना करने के बावजूद उन्हें गेस्ट हाउस की ओर ले चले। इन चार दिनों में बच्चे उनके इर्द-गिर्द बने रहे थे।

सोफे पर एक अधेड़ सज्जन बैठे अखबार पढ़ रहे थे। उन्हें देखते ही हड़बड़ाकर उठे और हाथ जोड़कर बोल पड़े, ‘बच्चे आपकी बहुत तारीफ करते हैं—आंटी इतनी अच्छी पेंटिंग बनाती हैं, आंटी की खिड़की से इतना अच्छा व्यू दिखती है.....’ बोलता-बोलते वह रुके, चश्मा नाक पर दबाया और आँखें दो तीन बार झपकाकर बोले, ‘अगर मैं गलत नहीं तो....आर यू...छवि?’

छवि-छवि-छवि.....जैसे किसी दुर्घटना में इंद्रियाँ संज्ञाहीन हो जाएँ.....वे जहाँ थीं, वहाँ खड़ी जैसे सचमुच बुत बन गई।

‘हाँ.....पर आप.....?’ बोलते हुए उन्हें अपनी आवाज किसी कुएँ के भीतर से उभरती लगी।

‘नहीं पहचाना न? मैं.....महेश। कॉलेज में तुम्हारा मजनू नं. वन!’ कहकर वे ठहाका मारकर हँस पड़े, ‘तुम भी अब नानी दादी बन गई होगी-पोते पोतियों वाली..... अपने साहब से मिलवाओ....’

उन्होंने आँखे झुकाई और सिर हिला दिया—वे नहीं रहे।

‘सॉरी, मुझे पता नहीं था!’ उनके स्वर में क्षमा-याचना थी।

‘चलती हूँ....’ वे रुकी नहीं, घर की ओर मुड़ गई।

पीछे से छोटे बच्चे ने उनका पल्लू थामा—‘आंटी....आंटी....’

वे मुड़ीं। बच्चे ने एक पल उनकी सूनी आँखों में झाँका, फिर पुचकारता हुआ धीरे से बोला—

‘आंटी, यू आर एन एंजेल’।

वे मुस्कुलाई, पसीजी हथेलियों से गाल थपथपाया, फिर घुटने मोड़कर नीचे बैठ गई, उसका माथा चूमा— ‘थैंक्यू!’ और घर की ओर ये कदम बढ़ाए।

काँपते हाथों से उन्होंने चाभी घुमाई। दरवाज़ा खुला। दीवारों पर लगी पेंटिंग्स के कोनों पर लिखा उनका छोटा-सा नाम वहाँ से निकलकर पूरे कमरे में फैल गया था। कमरे के बीचोबीच वह नाम जैसे उनकी प्रतीक्षा में बैठा था। वे हुलसकर उससे मिलीं और ढह गईं। जैसे बरसों पहले बिछड़े दोस्त से गले मिली हों। खिड़की के बाहर रेगिस्तान धीरे-धीरे हिलोरें लेने लगा था।

और फिर...न जाने कैसे खिड़की के बाहर हिलोरें लेता रेगिस्तान उमड़ते समुद्र की तरह बेरोकटोक कमरे में चला आया और सारे बाँध तोड़कर उफनता हुआ उनकी आँखों के रास्ते बह निकला।



खोये हुए अस्तित्व से अचानक मुठभेड़

यहां नायिका निम्नवर्ग या मध्यवर्ग की न होकर रईस तबके से सम्बद्ध है पर स्थितियों में कहीं न कहीं कोई समानता जरूर है। चॉल के उस कमरा नंबर एक सौ पैंतीस से आगे आप बंगले में रहने वाली विशुद्ध करवाचौथी गृहिणी को देखें तो उसे भी बहुत अलग नहीं पाएंगे। फर्क सिर्फ शारीरिक हिंसा से हटकर बारीक किस्म की प्रताड़ना का है। ताराबाई चॉल के कमरा नंबर एक सौ पैंतीस की औरत का जिस्म जहां जलती हुई सिगरेट से दागा जाता है, रईस संभ्रांत परिवार में अपने को पूरी तरह होम करके जीने वाली औरत के लिए, अपने पति की हीरे की अंगूठी पहने हुए उठी हुई तर्जनी में हीरों की चौंधियाने वाली चमक ही दहशत पैदा करने के लिए और उसके बोलने की कोशिश में खुले होंठों को बंद करने के लिए काफी है।

आम तौर पर निम्न मध्यवर्ग से लेकर उच्च वर्ग तक में ऐसी सैकड़ों स्त्रियों के उदाहरण मिल जाएंगे जो शादी के बाद अपनी चित्रकारी, मूर्तिकला, कथा कविता रचने की प्रतिभा या घर के फालतू बचे खुचे सामानों से दीवारों पर सजावट की कला- यहां तक कि सिलाई बुनाई और क्रोशिए और रंग-बिरंगे धागों की कशीदाकारी को भी त्याग कर पूरी तरह सास-ससुर, जेठ-जेठानी, बच्चे-बूढ़ों की

टोली को खुश रखने और घर में रौनक बनाए रखने के उत्साह में अपनी जिंदगी को पूरी तरह बेरौनक और बदरंग बना डालती हैं।

छवि, बेहद धनाढ्य परिवार में ब्याह कर आई एक ऐसी सर्जनात्मक स्त्री की कहानी है जो अपना बच्चा न हो पाने की कुंठा में और रईसी अभिजात्य माहौल की घुटन में बार-बार अपनी कला (चित्रकारी) तक लौटना चाहती है, अपने 'स्व' को पाना चाहती है, पर जिन्दगी की अप्रत्याशित घटनाएं, पति की मृत्यु- सौतेले बच्चों की उदासीनता उसे त्रस्त करती हैं। एकाएक पड़ोस में आये दो छोटे बच्चों का प्यार और स्वीकृति- 'आंटी यू आर एन एंजेल' और पुराने सहपाठी का 'छवि' नाम याद दिलाना उसे जैसे एक लम्बी नींद से झकझोर कर जगा देता है- एक नाम, एक अस्तित्व, जिसे वह शादी के पैंतीस सालों में भूल गई थी। जब तक कोई व्यक्ति या कोई हादसा उन्हें इस नींद से जगाता है, वे उम्र के कई दशक फलांग चुकी होती हैं। वे अपने घर की उस बेजान चौकोर खिड़की का हिस्सा बन जाती हैं, जहां बांध तोड़कर घर में घुस आया बेधड़क हहराता समुद्र भी उनके जीवन की एकरसता को तोड़ नहीं पाता।

आम तौर पर प्रयोगात्मक या शिल्प प्रमुख कहानियां मुझे आकर्षित नहीं करतीं, पर अक्सर ऐसा होता है कि कहानी स्वयं अपना शिल्प गढ़ती है। यह मैं बहुत गर्व से नहीं, शर्मिंदगी के साथ कह रही हूं कि कभी कभी मुझे शिल्प का कीड़ा काटता है। 'ऊबे हुए सुखी' रचनाकार का गद्य शायद इसे ही कहते होंगे, पर एक अभिजात्य वर्ग की स्त्री के अमूर्त किस्म के दुख (यों संतानहीन होने की 'मजबूरी' के दुख को अमूर्त नहीं कहना चाहिए) जो गरीबी, भूख और बदहाली से परे है, को अभिव्यक्त करने के लिए मुझे ऐसी ही रूमानी शब्दावली और बारीक बयान का शिल्प सटीक लगा। इस तरह के शिल्प में यह खतरा जरूर रहता है कि वह 'कथ्य' का कभी-कभी गला घोंट देता है। यहां इस शिल्प ने कहानी का क्या हथ्र (मुंबइया भाषा में 'कचरा किया') किया, यह तो पाठक ही बेहतर बता सकते हैं।



करवाचौथी औरत

घर में कुतिया और कंप्यूटर एक साथ आए थे, इसलिए सबने लकड़क, भूरी रोएँदार, बिलौटे-सी चमकती आँखों वाली कुतिया का नाम एकमत से फ्लॉपी रख दिया था।

आज करवाचौथ का व्रत था और फ्लॉपी सो रही थी। अक्सर वह सुबह पाँच बजे ही सविता को उठा देती है, पर आज उसने छह बजे उठाया, जब सूरज की रोशनी आसमान पर फैल चुकी थी। सरगी* का वक्त निकल चुका था। हर साल की तरह इस बार भी सुबह सरगी खाने के लिए सविता की नींद नहीं टूटी थी। वैसे अक्सर वह उठ भी जाती थी तो सिर्फ एक प्याला चाय पी लेती थी। करवाचौथ का व्रत रखने वाली दूसरी सुहागिनों की तरह पति की लंबी उम्र की कामना करते हुए सारे दिन के निर्जला उपवास की तैयारी में सुबह सूरज उगने से पहले कमर कसकर पूरी-सब्जी या भरवा पराँठे का भरपेट नाश्ता उसके लिए असंभव था।

* सरगी- करवाचौथ के व्रत के दिन सूर्योदय से पहले लिया गया खाना।

इधर फ्लॉपी ने अपने अलसाए हुए भूरे रोओं को स्पैनिश नृत्य की लय में झटकार कर सुबह होने का एलान किया, उधर सविता ने खीझ में अपना सिर झटक दिया। अब सारा दिन चाय की तलब सताएगी।

‘चल फ्लॉपी, आज,’ वह होंठों में बुदबुदाई तो फ्लॉपी चौकन्नी होकर उचकी।

दोनों सड़क पर थे। फ्लॉपी गले में पट्टा पहनने की आदी नहीं थी। दूसरे पालतू कुत्तों की तरह वह लीश में बँधी-बँधी मालिक के पीछे-पीछे दुम हिलाती नहीं चलती थी। उसके कदम आजाद थे और वह सविता के आगे-आगे, मनचाही राह पर इतराती हुई चलती थी। बीच-बीच में सिर घुमाकर देख लेती कि सविता पीछे आ रही है या नहीं। यह गली, यह इलाका उसकी बपौती था। अपने क्षेत्र में किसी दूसरे कुत्ते का आना उसे बर्दाश्त नहीं था। यहाँ तक कि सड़क पर एक कौआ देखकर भी वह शेरनी की तरह दहाड़ती, हिरनी की तरह कुल्लोंचे भरकर दौड़ती और कौओं को खदेड़कर ही दम लेती। उसके बाद वह शान से सविता की ओर विजेता की मुस्कान फेंकती। फ्लॉपी ने सुबह का अपना क्रियाकलाप समाप्त किया तो सविता ने लौट चलने का सिग्नल दिया।

फ्लॉपी ने आनाकानी की, फिर अहसान जताती सविता के ढीले कदमों से बेपरवाह फलाँगती घर पहुँच गई।

निर्जला व्रत शाम तक निढाल कर देता है, इसलिए सविता ने दोपहर बाहर बजे ही रात का खाना भी तैयार कर ढाँप-ढूपकर रख दिया। फ्लॉपी को भी आज शाकाहारी भोजन मिलेगा। सविता ने चावल में सब्जियाँ उबालकर उसका खाना तैयार कर लिया।

फ्लॉपी इठलाती हुई आई और दही-पुलाव के सात्त्विक भोजन को शूँ-शूँ कर सूँघती हुई अकड़ी हुई पूँछ के साथ कोप भवन में जाकर बैठ गई। सविता की दो बेटियों की पंक्ति में यही तीसरी नकचढ़ी बेटि थी।

‘नखरे मत कर ! आज तुझे यही खाना मिलेगा’ सविता ने उससे कहा, ‘नहीं खाना ? ठीक है, बैठी रह जब भूख लगेगी न, अपने-आप आएगी खाने।’

फ्लॉपी ने तिरछी नजर से सविता की ओर देखा और कैटरपिलर की तरह हाथ-पैर समेटकर जमीन पर मुँह टिकाकर पसर गई।

शाम को दोनों बेटियाँ स्कूल से लौट आईं। दोनों ने उसे पुचकारा—‘हाय स्वीटी पाय, व्हाय डिडन्ट यू ईट?’ छोटी ने खाना देखा तो नाक-भौं सिकोड़े- ममा, आप इसे घास-फूस खाने को क्यों देते हो? हाऊ कैन शी ईट दिस रॉटन फूड?’ फिर फ्लॉपी को गोद में लेकर पुचकारा— ‘ओह माई डार्लिंग, यू आर सो हंग्री। व्हॉट अ पिटी।’

अपने पापा के लौटते ही बेटियाँ शिकायत का पुलिंदा लेकर हाजिर हो गईं—‘पापा, देखो ना, मॉम इज टॉर्चरिंग पुअर लिट्ल सोल।’

सविता ने हँसकर कहा— ‘आज फ्लॉपी ने भी मेरे साथ करवाचौथ का व्रत रखा है।’

‘व्हॉट रबिश, यू कांट बी सो क्रुएल’ बौखलाते हुए साहब मजबूत कदमों के साथ रसोई में दाखिल हुए, डीप फ्रीजर से फ्लॉपी का मनपसमद पोर्क मिन्स्ट निकाला, डिफ्रॉस्ट किया और गैस पर चढ़ा दिया।

फ्लॉपी ने सविता को चिढ़ा-चिढ़ाकर, चटखारे ले-लेकर खाना साफ किया और हमेशा की तरह सविता की साड़ी से मुँह रगड़कर पोंछ लिया। छोटी बेटि ने फ्लॉपी को शाबाशी दी— ‘गुड गर्ल, दैट्स द पनिशमेंट। मम्मी की ‘करवाचौथ-स्पेशल’ लाल साड़ी खराब कर दी। बड़ी बेटि ने पापा की ओर से फरमाईश की— ‘फ्लॉपी को तो पापा ने खिला दिया, अब आप पापा के लिए थोड़े से चिप्स फ्राई कर दो। प्लीज, मम्मा! हमें भी भूख लगी है।’

सविता उठी और सूखते गले को थूक निगलकर तर करते हुए आलू के चिप्स तल दिए और सिर पकड़कर लेट गई। यह सरगी में चाय न पीने की सज़ा थी।

सूरज जब शाम को ऊब-डूब हो रहा था, सविता ने सब लाल-गुलाबी साड़ीवालियों के साथ वृत्ताकार बैठकर पूजा की। जब सब हाथ जोड़कर बैठी थी, फ्लॉपी ने धीरे से दायीं पंजा बढ़ाकर पूजा की थाली का लाल कपड़ा सरकाया और कागजी बादाम के दो दाने मुँह में सटक लिए। सविता सूखे गले से कुंकुआई तो छोटी बेटि फ्लॉपी को नवजात बच्चे की तरह दोनों बाँहों में समेटकर भीतर से ले गई। फ्लॉपी पर ‘हैंडल विथ केअर’ का लेबल लगा था। कुछ भी कहना बेकार था। घर में फ्लॉपी के सात खून माफ थे।

इस बार पक्की चौथ थी। चाँद देर से निकलने वाला था। मेज़ पर ढका हुआ खाना सबने गर्म किया, स्वाद ले-लेकर खाया और खाते हुए चाँद के न निकलने को लेकर परेशान होते रहे।

आखिर चाँद निकला। सविता ने जाली की ओट से चाँद देखा, अर्घ्य दिया और हाथ जोड़कर मन ही मन कहा— ‘हे गौरजा माता, अगले जनम में अगर मुझे मनुष्य-योनि में जन्म न मिले तो पशु-योनि में मुझे किसी घर की पालतू कुतिया बना देना ताकि मैं करवाचौथ के दिन अपना जूठा मुँह किसी सुहागन की लाल साड़ी से पोंछ सकूँ।’

दरवाज़े पर बैठी फ्लॉपी ने अघाई नज़रों से सविता की ओर देखा और जीभ बाहर निकालकर लार टपकाती हुई अधमुंदाई आँखों से ऊँघने लगी।



अपनी पालतू कुतिया के वर्चस्व के साये में

करवाचौथी औरत- यह कहानी करवाचौथ के व्रत के एक दिन की कहानी कहती है। घर का पालतू कुत्ता या कुतिया बेहद मुहब्बती और संवेदनशील प्राणी होता है- बचपन से (यानी जब वह एक हथेली में समाने लायक बित्ते भर का होता है) वह हमारे साथ होता है तो वह परिवार के सदस्य से बढ़कर हो जाता है। वह इसलिए कि हम इंसान तो बोलकर अपना प्यार और गुस्सा सभी कुछ जाहिर कर देते हैं पर यह बेजबान प्राणी सिर्फ अपनी नम आंखों से या मुँह घुमाकर अपना प्यार या रूठना जाहिर कर देता है। इतना कि उसे बाहर का कोई आदमी उसे नाम से न बुलाकर जाति से संबोधित करे यानी कुत्ते को कुत्ता कह दे तो घर के सभी सदस्य फौरन उसका नाम बता देते हैं कि इसे इसके नाम से बुलाया जाए। लेकिन इसे सहेज संभाल कर बड़ा करने वाली औरत को क्या उसकी खड़े होने भर की भी जगह मिल पाती है?

इस डेढ़ हड्डी की मरियल सी कहानी में स्वर जरूर मजाहिया है पर बात उतनी ही गंभीर है। गौर करें कि एक पालतू कुतिया 'फ्लॉपी' और घर की तथाकथित

मालकिन के बीच लगातार एक सी स्थितियों और रोजमर्रा की रूटीन से निबटने की रस्साकशी है जिसमें कुतिया और घर की औरत का कमोबेश रोल रिवर्सल है। अगर इनकी गिनती करें तो-

एक-घर की लाइली पालतू कुतिया का नाम है 'फ्लॉपी' और उसे सब उसके नाम से ही बुलाते हैं जबकि घर की मालकिन, दो बेटियों की मां और एक अदद साहब की बीवी अपने नाम से कम और ओहदे से अधिक जानी जाती हैं।

दो- 'फ्लॉपी' का अपने अलसाए हुए भूरे रोओं को स्पैनिश नृत्य की भंगिमा में झटकार कर सुबह होने का एलान करना और सविता, कविता या वनिता नाम की औरत का खीज में दिन शुरू करना क्योंकि उसे दिन भर चाय न पीने की सजा झेलनी है- दोनों के ओहदों के पलड़ों को आंकने की शुरुआत करता है।

तीन- 'फ्लॉपी' गले में पट्टा बांधने की आदी नहीं और दूसरे पालतू कुत्तों की तरह लीश में बंधी बंधी मालिक के पीछे-पीछे दुम हिलाती नहीं चलती जबकि घर की औरत उसके पीछे-पीछे दुम हिलाती उसके आदेशानुसार अपना रास्ता तय कर रही है और घर की तथाकथित मालकिन से पहले ही 'फ्लॉपी' फलांगती हुई बेपरवाह कदमों से घर पहुंच कर अपनी अघोषित आजादी का एलान करती है।

चार- 'फ्लॉपी' का इलाका घर के भीतर ही नहीं, घर की दहलीज के बाहर भी फैला है- जहां वह अपनी गली और इलाके की बपोती समझ कर शेरनी की तरह दहाड़ती और हिरनी की तरह कुलांचे भरती है पर सविता का इलाका दहलीज के भीतर ही सिमटा है जहां वह 'फ्लॉपी' की ज्यादाती पर सूखे गले से कुंकुंआ सकती है क्योंकि उस घर में 'फ्लॉपी' के सात खून माफ हैं।

कुल जमा बात यह है कि एक गिरस्तिन (होममेकर- गृहिणी का रुतबा जरा सा ऊपर बढ़ा देने वाला अंग्रेजी अनुवाद) औरत की बेकद्री के असंख्य कारण हो सकते हैं। यह भी कि शादी के तीस पैंतीस साल बाद भी घर की तथाकथित मालकिन को शाब्दिक रूप से 'कुतिया' (जिसका अंग्रेजी में अनुवाद 'बिच' ज्यादा संभ्रांत लगता है!) का खिताब अपने पढ़े-लिखे शालीन संभ्रांत पति द्वारा मिल सकता है, पर वैसा सम्मान नहीं मिलता जो उसकी 'जात बिरादरी' की 'फ्लॉपी' को परिवार के हर सदस्य से मिल जाता है!

“हमारे यहां कुछ व्रत उपवास ऐसे हैं, जिनको करने के बाद स्त्री अपने पति के पैर

छूने जाती है और पति महाशय, गांव-देहात के सामान्य साधारण की बात तो छोड़ ही दें, शहर के पढ़े-लिखे, आधुनिकता का तमगा लटकाए, स्त्री पुरुषों की बराबरी का ढोल पीटनेवाले लोग भी उस समय शुद्ध 'पति परमेश्वर' बने आराम से अपने पैर आगे बढ़ा देते हैं। क्या पुरुष मात्र का सामन्ती अहं इस बात से तुष्ट नहीं होता कि स्त्री उसके चरणों का स्पर्श करे उसके चरणों में लौटे? कभी कोई इनके आचरण पर टिप्पणी करे तो तुरूप के पत्ते की तरह यह तर्क तो हमेशा उनके हाथ में रहता ही है- 'अरे, हमें तो खुद ही यह सब बिल्कुल पसंद नहीं, पर क्या करें, पत्नी की खुशी के लिए, उसके संतोष के लिए करना पड़ता है।'

पत्नी के सुख और संतोष की दावेदारी करने वाले ऐसे ही लोगों में से दो-एक को तो मैंने अपनी पत्नी को मारते भी देखा है। कुछ पत्नियां अपने शरीर पर प्रहार झेलती हैं तो कुछ अपनी भावनाओं पर- जैसे झेलना-भोगना तो पत्नियों की नियति ही हो!"

(मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृष्ठ 116)

नारीवाद से सख्त परहेज करने वाली, नारीवादी कहलाए जाने से भरसक बचने की सायास कोशिश करने वाली मन्नू जी की कोई भी रचना उठा लें तो उसमें इस तरह की टिप्पणियां, घोषणाएं या जुमले बहुतायत में मिल जाएंगे जिन्हें लेकर नारीवाद का परचम लहराया जा सकता है। मन्नू जी की इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहूं तो एक पढ़ी-लिखी, समझदार औरत का प्रगतिशील पति का अहं भी इस बात से तुष्ट होता ही है कि उसकी पत्नी ने उसकी सलामती के लिए करवाचौथ का व्रत रखा है और एक विदूषी महिला को अपने चरणों में डाल रखा है। वह भी अपनी पत्नी के साथ-साथ चांद के समय से न निकलने को लेकर अपनी परेशानी और खीझ जाहिर करता है।

हर औसत हिन्दी फिल्म में होली-दीवाली की तरह करवाचौथ के व्रत का त्यौहार अपने शादी के लाल जोड़े, मांग टीके और मंगलसूत्र पहने गुड़िया सी सजी धजी औरतें, हाथ में थाल और चलनी से दिखते चांद में, अपने प्रेमी पति की तस्वीर का अच्छा खासा रंग बिरंगा कोलाज रचती हैं जो आज के उपभोक्ता बाजार में खासा बिकाऊ है। करवाचौथ के गानों के सी डी तैयार होते हैं। सरगी की खास मट्टियों और दूध में डालकर खाने वाली फेनियों से मिठाई की दूकानें अंटी पड़ी होती हैं। एक तथाकथित आधुनिक ट्विस्ट इसमें यह दिया गया है कि आज बराबरी के अधिकार पर मुहर लगाने वाला आधुनिक पति (बागवान में अमिताभ बच्चन अपनी पत्नी हेमा

मालिनी के लिए और दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे में शाहरुख खान अपनी होने वाली पत्नी काजोल के लिए) भी निर्जला व्रत रखता है। हकीकत में यह कितना व्यवहार में आ पाया है, उसे मापने का कोई आंकड़ा नहीं है। पाठकगण या तो खुद पत्नी के साथ निर्जला व्रत रखें और जानें कि चांद निकलने तक निर्जला व्रत रखकर पत्नी की क्या दुर्दशा होती है या पत्नियों को भी इस फिजूल का स्वांग धरने से रोकें।



एक औरत : तीन बटा चार

एक तीस बरस पुराना घर था। वहाँ पचास बरस पुरानी एक औरत थी। उसके चेहरे पर घर जितनी ही पुरानी लकीरें थीं।

तब वह एक खूबसूरत घर हुआ करता था। घर के कोनों में हरे-भरे पौधे और पीतल के नक्काशीदार कलश थे। एक कोने की तिकोनी मेज पर ताजे अखबार और पत्रिकाएँ थीं। दूसरी ओर नटराज की कलात्मक मूर्ति थी। कार्निंस पर रखी हुई आधुनिक फ्रेम में जड़ी, विदेशी पृष्ठभूमि में एक स्वस्थ-संतुष्ट दम्पति के बीच एक खूबसूरत लड़की की तस्वीर थी। उसकी बगल में सफेद रूई से बालोंवाले झबरेले कुत्ते के साथ एक गोल-मटोल बच्चे की लैमिनेटेड तस्वीर थी।

घर के साहब और बच्चों की अनुपस्थिति में भी उनका जहाँ-तहाँ फैला सामान उनकी बाकायदा उपस्थिति की कहानी कहता था। उस फैलाव को समेटती और उस घर को घर बनाती हुई यहाँ-से-वहाँ घूमती एक खूबसूरत औरत थी — आखिरी अँगुली पर डस्टर लपेटे— हर ओने-कोने की धूल साफ करती हुई हर चीज को करीने से रखती हुई, लजीज खाने को धनिये की हरी-हरी कटी हुई पत्तियों से सजाकर तरह-तरह के आकारों वाले खूबसूरत बर्तनों में परोसती हुई और फिर रात

को सबके चेहरे की तृप्त मुसकान को अपने चेहरे पर लिहाफ की तरह ओढ़कर सोती हुई।

इसी दिनचर्या में से समय निकालकर वह औरत बाहर भी जाती— बच्चों की किताबें लेने, साहब की पसंद की सब्जियाँ लेने, घर को बनाये रखने का सामान लेने। हर महीने की एक निश्चित तारीख को वह अपनी हमउम्र सखी-सहेलियों के घर चाय-पार्टी में भी हिस्सा लेती, पर हर बार घर से बाहर निकलते समय वह अपना एक हिस्सा घर में ही छोड़ आती। वह हिस्सा घर के सेफ्टी अलार्म जैसा था जिसका एक तार उस औरत से जुड़ा था। अचानक बाजार में खरीदारी करते हुए या सहेली के घर नाश्ते की प्लेट हाथ में पकड़े हुए अचानक उस तीन चौथाई औरत का तार खनखनाने लगता। वह घड़ी की ओर टकटकी लगाकर देखने लगती और अपने छूटे हुए हिस्से से मिलने को बेचैन हो उठती। घर की दहलीज के भीतर पाँव रखते ही दोनों हिस्से जब चुम्बकीय आकर्षण से एक-दूसरे से मिल जाते तो वह राहत की लंबी साँस लेती। स्कूल से लौटते अपने बच्चों को दोनों बाँहों में भर लेती और बच्चों के साथ साहब का इंतजार करने लगती। बच्चों की आँखों में अपनी मासूम माँग के पूरे होने की चमक होती कि माँ दिन-भर कहीं भी रहे, पर उनके स्कूल से लौटने से पहले उन्हें घर में उनके पसंदीदा नाश्ते के साथ माँ हाजिर मिलनी चाहिए। यही हिदायत साहब की भी थी।

इन हिदायतों और फरमाइशों की सुनहरी चकाचौंध में उसने इस बदलाव पर भी गौर नहीं किया कि उसके दोनों हिस्सों की फाँक में खाई बढ़ती जा रही है। घर में छूट जाने वाला एक चौथाई हिस्सा धीरे-धीरे फैलता गया और उसने तीन चौथाई हिस्से को अपनी ओर खींच लिया। अब वह बाहर जाती तो एक चौथाई हिस्सा ही उसके साथ जाता जिसे देखकर सखी-सहेलियाँ, नाते-रिश्तेदार उसे आसानी से नजरअंदाज कर देते। बाहर का सारा काम जल्दी-जल्दी निबटाकर वह घर लौट आती तो देखती कि दूसरा हिस्सा नदारद है। दरअसल उस हिस्से का चुम्बकीय आकर्षण भोथरा हो गया था। वह पूरे घर में उसे ढूँढ़ती फिरती। बच्चे, जो अब बच्चे नहीं रहे थे, हँसकर पूछते—“क्या खो गया है माँ? हम मदद करें?”

‘नहीं, मैं खुद देख लूँगी....’ वह अपनी झेंप मिटाती-सी कहती।

‘यहाँ, इस कमरे में तो नहीं है न?.....प्लीज!’ बच्चे, बड़ों की मुद्रा में समझा देते कि उन्हें अपना काम करने के लिए अकेला छोड़ दिया जाए।

वह कमरे से बाहर आ जाती और बदहवास-सी बैठक के कोने में पड़े फूलदान से टकरा जाती, जहाँ प्लास्टिक के खूबसूरत फूलों के बीच उसका वह हिस्सा इस कदर ढीला पड़ा होता कि पहली नजर में तो वह दिखाई ही नहीं देता। फिर पहचान में भी नहीं आता कि यह वही है जो पहले दहलीज पर पाँव धरते ही उससे उमगकर आ जुड़ता था। अब वह सेफ्टी अलार्म की तरह वक्त पर खनखनाता भी नहीं। बिना सिग्नल के भी वह वक्त पर लौट ही जाती।

आने के बाद उसके वक्त का एक बड़ा हिस्सा उसे घर के ओने-कोने में तलाशते हुए बीतता। वह बार-बार भूल जाती कि घर से निकलते वक्त उसे कहाँ छोड़ा था। कभी वह देखती कि लॉन में पानी डालते हुए वह उसे वहीं छोड़ आई थी और वह उसे गेंदे की क्यारी के किनारे लगी ईंटों की तिकोनी बाड़ पर लुढ़का हुआ मिलता। कभी वह देखती कि दरवाज़े के साथ लगे साइनबोर्ड के पास ही जूतों के बीच वह धूल-मिट्टी से सना पड़ा है। वह उसे हाथ बढ़ाकर सहारा देती, उसकी धूल-मिट्टी झाड़ती और धो-पोंछकर सबकी नजरों से बचाते हुए दुपट्टे में छिपाकर अपने साथ लिए चलती।

कभी-कभी बच्चे, जो अब बड़े हो गए थे, आते-जाते पूछ भी लेते- 'यह तुमने पल्लू में क्या छिपा रखा है?'

'कहाँ! कुछ भी तो नहीं.....' वह कुछ और सतर्कता से उसे ढँक लेती...इस उम्मीद में कि उनके अगले सवाल पर वह खुद उसे उघाड़कर दिखा देगी और उनसे इस हिस्से के बारे में सलाह-मशविरा करेगी। पर बच्चे अपनी बड़ी व्यस्तताओं में इतने मुतमइन होते कि उसके कुछ कहने से पहले ही फौरन आगे बढ़ लेते- 'अच्छा! समथिंग पर्सनल? ओ.के.कैरी ऑन, मॉम!'

वह घर की हालत देखती और दुखी होती। लकड़ी के फर्नीचर की वॉर्निश बेरौनक हो गई थी। घर के अंदर के पौधे धूप और हवा के बिना मुरझाने लगे थे। बैठक के सोफों और कुर्सियों की गदियों की सीवनें उधड़ने लगी थीं। दरवाज़ों और खिड़कियों के काँच पारदर्शी नहीं रह गए थे। बैठक से ऊपर बेडरूम को जाती सीढ़ियों की रेलिंग के हथ्यों और कोनों में धूल की बेशुमार तहें थीं। फ्रेम में जड़ी तस्वीरों के रंग फीके पड़ गए थे। पूरे घर पर जैसे धुँधले से आवरण की चादर फैली थी और इन सबके बीच बार-बार गुम होता उसके सम को बिगाड़ता वह तीन चौथाई हिस्सा उसे अस्त-व्यस्त कर रहा था।

अब वह उसे साथ लिए-लिए, साहब का इंतजार करती कि शायद साहब उसके इस बेडौल अनुपात के बारे में पूछताछ करें, पर साहब ठीक खाने के वक्त

पर बिना इत्तला किए दो-चार मेहमानों को साथ लिए लौटते या बाहर किसी होटल में खाना खाकर देर से लौटते और लौटने के बाद भी वहाँ ही होते जहाँ से लौटे थे। पलकों पर नींद के हावी होने तक साहब बाँई ओर झुके-झुके फ़ोन पर बातें करते रहते या गावतकिये पर बाँई टेक लगा किसी फाइल में सिर गड़ाकर पड़े रहते। ऐसी एकाग्रता से उनका ध्यान खींचना किसी खतरे की घंटी जैसा था जिसे बजाने से उस ख़ाई के फट जाने का डर था, जिसे लेकर वह चिन्तित थी।

सबके सो जाने के बाद और अपने सोने से पहले वह अपने पल्लू में छिपे उस माँस के लोथ से पड़े ढीले हिस्से को धीमे-से थपककर सुला देती और फिर खुद सो जाती, पर सुबह जब उठती तो देखती कि उसके उठने से पहले ही वह हिस्सा जागकर साहब के पैताने खड़ा सबके उठने का इंतजार कर रहा है और रात-भर के उर्नीद से उसकी साँसे कुछ श्लथ हैं। उन साँसों का श्लथ होना उसमें सुबह-सुबह ही ऐसी बेचैनी भर देता कि उसका मन होता, उस ढीले, बीमार लोथ को वहीं अपने हाल पर छोड़कर, अपना बचा-खुचा, सही-सलामत तिहाई-चौथाई हिस्सा लेकर ही इस मटमैले घर से हमेशा के लिए पलायन कर जाए। वह इस बारे में गंभीरता से सोच ही रही थी कि एक हादसा हो गया।

एक सुबह साहब सोकर तो उठे पर उठ नहीं पाए। वह अभी सो ही रही थी। जगी तो देखा, साहब के पैताने खड़ा उसका वह हिस्सा अपना पूरा जोर लगाकर साहब को बिस्तर से उठ बैठने में मदद कर रहा है। वह आँखें फाड़े देखती रह गई। वह जो उस पर पूरी तरह निर्भर था, जो उसके सहारे के बिना लुंज-पुंज जहाँ-का-तहाँ पड़ा रहता था, बिना उसकी इजाजत लिए आज इस कदर जाग्रत, चौकन्ना और क्रियाशील दिखाई दे रहा था। पर उस हिस्से की सारी मेहनत और तरकीब बेकार गई। साहब फिर कटे हुए पेड़ की तरह ढह गए और कराहने लगे।

उसने फौरन डॉक्टर, हकीम बुलाए। डॉक्टर ने मुआयना किया और बताया कि साहब की गर्दन और पीठ की शिराओं में संकुचन हो गया है और ऐसा बरसों से साहब के एक ही ओर झुके रहने के कारण हुआ है। साहब कार में बैठते तो एक ओर झुककर अखबार पढ़ते, चेयरमैन की कुर्सी पर बैठे फोन पर बतियाते तो एक ओर झुककर दाहिने हाथ से खाना खाते तो ऐसे, जैसे बाँई ओर बैठे किसी दूसरे के मुँह में निवाला डाल रहे हैं। साहब का शरीर जो बाँई ओर को टेढ़ा हुआ कि सीधा होने का नाम ही न ले। यहाँ तक कि जब वह चलते तो भी पीसा की मीनार

की तरह उनका एक ओर को झुकाव दूर से ही देखा जा सकता था। अब जबकि वह सीधा होना चाहते थे तो रीढ़ की हड्डी ने जवाब दे दिया था। उसकी लोच खत्म हो गई थी और वह धातु की तरह सख्त और एकजोड़ थी। ज़रा-सा-हिलना-डुलना उनके लिए असह्य था और उस ओर हल्के से दबाव से भी हड्डी में तरेड़ आने की सम्भावना थी।

पचासों दवाइयाँ, इंजेक्शन, ट्रेक्शन, डायथर्मी यानी हर सम्भव इलाज किया गया, पर साहब की कराहों में कोई फर्क नहीं पड़ा। दिन, हफ्ते, महीने गुजरते गए। डॉक्टर ने ऐलान कर दिया कि यह मर्ज लाइलाज है और वह पहले की तरह अब कभी दफ्तर नहीं जा पाएँगे। उनकी शिराओं को मुलायम करने के लिए व्यायाम करवाये जाने लगे। वह साहब के लिए दूध, सूप या फलों का रस लेकर आती तो देखती, उसका वह तीन चौथाई हिस्सा पहले से उन्हें व्यायाम करवाने और तीमारदारी में जुटा है।

आखिरकार दोनों की मेहनत रंग लाई। साहब बिस्तर से खुद उठकर बैठने लगे, खुद चलकर गुसलखाने जाने लगे। दफ्तर से फाइलें घर पर आने लगीं और साहब ने घर पर ही दफ्तर खोल लिया। डॉक्टर ने देखा तो उन्हें धीरे-धीरे चलने की हिदायत दे दी। उनके लिए एक खास किस्म की छड़ी बनवाई गई जिसे एडजस्ट कर छोटा-बड़ा किया जा सकता था। वह छड़ी उनके दाएँ हाथ में थमा दी गई। पर साहब का बायाँ हिस्सा इतना कमजोर हो चुका था कि उसे भी सहारे की ज़रूरत थी। उस हिस्से के लिए लकड़ी या मेटल की मजबूत छड़ी कारगर नहीं थी। उस ओर के लिए एक ऐसी छड़ी दरकार थी जो साहब के बाएँ हिस्से के अनुरूप अपने को हर माप के साँचे में ढाल सके। इसके लिए उस तीन बटा चार माँस के लोथ से ज्यादा लचीला और क्या हो सकता था? साहब को बड़ा-छोटा, ऊँचा-नीचा जैसा सहारा चाहिए होता, वह पलक झपकते अपने को उस आकार में ढाल लेता। उसने देखा, साहब की तबीयत में सुधार होने के साथ-साथ उसका वह तीन चौथाई हिस्सा भी सेहतमंद हो रहा था। अब भी रात भर साहब के पैताने जागने के बावजूद उसकी साँसों में शिथिलता नहीं रही थी। अब उसे ढूँढ़ना नहीं पड़ता था। बाक्री की ज़िंदगी के लिए साहब की बगल में उसकी जगह सुनिश्चित हो चुकी थी।



अपने लिए कब जीना सीखेगी औरत?

इस कहानी की औरत पूरे एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। हिन्दुस्तान की महिलाओं का एक बड़ा प्रतिशत विशुद्ध गृहिणी वर्ग है। यह वर्ग ऐसा है जिसका अपना कोई अस्तित्व है ही नहीं।

एक पढ़ी-लिखी हिन्दुस्तानी औरत की त्रासदी ही यह है कि पूरी तरह घर, पति और बच्चों को समर्पित, अपनी निजी जिंदगी का एक महत्वपूर्ण और सुनहरा हिस्सा वह अपना घर सुचारु रूप से चलाने में, अपने पति की रुचि और पसंद के अनुसार अपने आपको ढालने में और अपने बच्चों की पढ़ाई तथा उनके भविष्य की चिंता में होम कर देती है। अपने पति और बच्चों को आगे बढ़ते, फलते-फूलते देखकर वह एक लंबे अरसे तक अपने तई परम तृप्त, अघाई रहती है, जब तक उसके साँचे हुए पौधे अपनी जड़ों में पानी डालने के लिए उसके मोहताज नहीं रह जाते। तब जाकर अपने आप को ढूँढ़ने का उसका अभियान शुरु होता है पर उसका अपना आप उसके ढूँढ़े नहीं मिलता।

घर गृहस्थी के दलदल में एक गृहिणी के पांव धीरे-धीरे इतने गहरे धंसते जाते हैं कि वह अपने को उस दलदल में से चाहते हुए भी निकाल नहीं पाती। अन्ततः

यह घर का जंजाल उसे पूरा का पूरा लील जाता है। यह गृहिणी औरत घर से इतना ज्यादा जुड़ जाती है कि वह घर के फर्नीचर और दीवारों का एक हिस्सा हो जाती है। वह किसी भी काम से घर के बाहर जाए, घर की दीवारें उसे किसी चुम्बक की तरह खींचती रहती हैं। होता यह है कि वह अपने को पूरा का पूरा कभी साथ ले जा ही नहीं पाती। शुरुआत में अपना एक चौथाई हिस्सा घर पर छोड़ कर जाती है पर धीरे-धीरे वह तीन चौथाई हिस्से को घर गृहस्थी में ऐसा बड़ा हुआ पाती है कि बड़ी प्रसन्नता से अपने एक तिहाई हिस्से से ही अपने लिए मुतमइन हो रहती है।

चालीस-पैंतालीस की उम्र के बाद यह औरत अचानक पाती है कि वह एक फालतू सामान की तरह घर में पड़ी है। बच्चे अपने पैरों पर खड़े हैं और माँ उनके लिए बहुत बड़ी जरूरत नहीं रह गई है। पति के लिए वह एक 'आदत' बन चुकी है। अब या तो वह पुराने जमाने की औरत की तरह अपने तथाकथित 'त्याग' को लेकर आत्ममुग्ध स्थिति में गद्गद् भाव से प्रतिष्ठित हो ले या अपने बीते दिनों की जुगाली कर आंसू बहाए। होता यह है कि अपने घरेलू सिंहासन के आकस्मिक स्थानांतरण से बौखलाकर वह अपना मानसिक संतुलन खो बैठती है और अपने अस्तित्व की सार्थकता की तलाश में छटपटाती है। इसे वह 'मेनोपॉज' या 'हॉर्मोन्स' के 'इम्बैलेन्स' का नाम देकर अपने को बहलाने में एक हद तक कामयाब भी हो जाती है। अगर एक औरत उससे पहले ही संभल जाती है तो इसमें गलत क्या है? उसने क्या गुनाह किया है कि उसे पति और बच्चों के भविष्य के सुनिश्चित होने तक अपने बारे में सोचने का अधिकार ही नहीं है?

इस कहानी की तीन बटा चार औरत कस्बे की नहीं, महानगर की है। कई बार यह भी देखा गया कि पति की ज्यादातियों से, विवाहेतर संबंधों से संतुष्ट, तलाक की कगार पर पहुंची औरतें भी पति की बीमारी की खबर पाते ही एक नर्स की मुस्तैदी से, हर समय सेवा के लिए तत्पर मुद्रा में हाजिर दिखाई देती हैं। उनके जीवन का आरंभ, मध्य और अंत, घर की चहारदीवारी के भीतर सिर्फ एक नायक के इर्द-गिर्द बगैर किसी पटाक्षेप के घटता चला जाता है। ऐसी औरतों की जमात बहुत बड़ी है। आश्वस्तिकर बात यह है कि हमसे अगली पीढ़ी इस बंटे हुए रोल से बाहर निकल आई है और घर और बाहर की अपनी भूमिका को ज्यादा समझदारी और आत्मसम्मान के साथ निभा रही है।



डर

दुपहर की फुरसती धूप में शेल्फ पर मुस्कुराती किताबें थीं।

करिने से सजी किताबों में से एक नई-सी दिखती किताब को उसकी उँगलियों ने हल्के से बाहर सरका लिया। उसे उलट-पलटकर देखा। यह एक रूमानी उपन्यास था। कवर पर एक आकर्षक तस्वीर थी।

उसने कुछ पन्नों पर एक उड़ती-सी निगाह डाली। फिर पहले पन्ने पर उसकी निगाह थम गई। किताब के पहले पन्ने पर दाईं ओर ऊपर की तरफ एक मैली-सी चिप्पी थी।

वह एकाएक सोच में उलझ गई।

वह सोचती रही और चिप्पी को कुरेदती रही जो ऊपर से चिपकाई गई थी।

अब वहाँ किताब की जगह सिर्फ एक चिप्पी थी।

उसके नाखून भोंथरे थे। फिर भी चिप्पी का एक कोना कुछ नरम होकर खुला।

उसकी उँगलियाँ अब कौशल में डूब गईं। उसे सिर्फ चिप्पी निकालनी थी। किताब का पन्ना खराब किए बिना।

“कोई फायदा नहीं, छोड़ दे,” उसने अपनी उँगलियों से कहा, “इस चिप्पी को हटाने के बाद भी इसके निशान किताब पर रह जाएँगे।”

पर उँगलियों ने सुना नहीं। वे अपने काम में दक्षता से तल्लीन रहीं। तब तक, जब तक वह चिप्पी उखड़ नहीं गयी।

उसकी मुस्कुराहट फैलने से पहले ही सिमट गई। चिप्पी के साथ किताब का थोड़ा-सा कागज भी लिथड़ गया था। उस पर लिखा नाम आधा रगड़ खाए किताब के पन्ने और आधा चिप्पी पर था।

वह अपनी सोच से लौट आई थी। उसने चिप्पी को काँपते हाथों से दुलारा, सीधा किया, हथेली पर रखा और आईने के सामने जा खड़ी हुई।

आईने में नाम सीधा हो गया था।

एक जादुई ताला जैसे खुला। वह सिर थामकर बैठ गई।

फिर ताकत लगाकर उठी। उसने अपनी उँगलियों को कोसा। क्यों वे कोई-न-कोई खुराफात करती रहना चाहती हैं? क्यों?

उसके कानों में एक रुआबदार आवाज़ बजी, वह थरथराने लगी।

उस चिप्पी के पीछे गोंद लगाकर उसे फिर से चिपकाना चाहा। पर कागज उँगलियों के निरन्तर प्रहार से छीज गया था। वह गीली छाप छोड़ रहा था।

उसने खुली किताब को धूप में रखा और बदहवास-सी घर में ढूँढ़ती फिरी, वैसी ही चिप्पी के लिए। मेज़, दराज, शेल्फ, डिब्बे, फाइलें, लिफाफे, अलमारियाँ, टी.वी. के ऊपर, किताबों के बीच। वह छपी हुई डाक टिकट के नीचे का अनछपा कागज था।

आखिर मिला वह, पुरानी डायरी में रखे डाक टिकटों के साथ।

उसने उसी साइज़ की चिप्पी फाड़ी, वैसा ही उल्टा नाम लिखा। उसे एहतियात से चिपकाया।

फिर उँगली को जरा मैला कर उस पर फिरा दिया।

उस चिप्पी को कई कोणों से उसने देखा।

अब उसने राहत की साँस ली। सब ठीक था।

उसने इत्मीनान से किताब को शेल्फ पर मुस्कुराती दूसरी किताबों के साथ पहले की तरह टिका दिया और दुपहर की फुरसत ओढ़कर लेट गई।



अपने घर में सम्मान के साथ जीने का अधिकार

यह एक गृहिणी के रोजमर्रा की स्वीकृत एकरस रूटीन में खलल डालती एक दोपहर की कहानी है जिसके बारे में पाठकों की शिकायत थी कि कहानी समझ में नहीं आई। तब मैंने इसके शीर्षक 'यथास्थिति' को बदलकर 'डर' कर दिया कि शायद अब कहानी कुछ खुले। खुली, लेकिन सबके लिए तब भी नहीं। दरअसल यह कहानी एक औसत सामान्य गृहिणी के खौफ की कहानी है जिसके कानों में अपने पति की रुआबदार आवाज़ बजती है और वह थरथराने लगती है।

हर औसत गृहिणी के दिन का एक बड़ा हिस्सा घरेलू कामकाज और बच्चों की पढ़ाई में चला जाता है। दोपहर का एक छोटा सा हिस्सा होता है जो वह अपने लिए रखती है। दोपहर की एक छोटी सी घटना के माध्यम से एक गृहिणी औरत के अपने घर की यथास्थिति को बनाए रखने की कहानी है। इस कहानी की औरत के घर की दीवारों में लगे शेल्फ हैं जहां किताबें मुस्कुरा रही हैं। उस शेल्फ में आकर्षक कवर वाले एक नये रूमानी उपन्यास को देखकर वह पढ़ने के लिए हाथ में लेती है। वह किताब उसकी नहीं है। किताब नयी है। जाहिर है कि किताब उसके पति की है। किताब हाथ में लेते ही उसका ध्यान किताब के पहले पन्ने पर दाईं ओर

चिपकी एक मैली सी चिप्पी की ओर जाता है। जिज्ञासावश वह उसे कुरेद देती है। जैसे ही कागज हटता है, उसके साथ किताब पर लिखा हुआ नाम भी उतर जाता है। आर्डने में उस नाम को सीधा करके वह देखती है तो एक जादुई जाला जैसे खुलता है। कहानी में इस जगह अगर एक पंक्ति जोड़ दी जाती कि “वह इस नाम से परिचित है। यह नाम उसके पति की प्रेमिका का है” तो कहानी के छिपे हुए सारे अर्थ खुलकर सामने आ जाते।

एक घरेलू औरत, अपने घर को बचाए रखने की कोशिश में ऐसी किसी भी स्थिति को उघाड़ना नहीं चाहती जो यथास्थिति में खलल डालें। वह अपने पति को नहीं मालूम होने देना चाहती कि वह उसके ‘प्रेम’ या क्रियाकलापों के बारे में जानती है। वह अपने घर-परिवार में एक ‘स्टेटस क्वो’ बनाए रखना चाहती है। इसलिए तब तक बेचैन रहती है जब तक उस किताब को पहले की तरह चिप्पी लगाकर छोड़ नहीं देती।

यह सिर्फ एक औरत की कहानी नहीं है। ताउम्र खौफ में जीने वाली औरतों की जमात काफी बड़ी है। जब 30 मार्च 2008 को मेरा आलेख ‘द वायलेंस ऑफ सायलेंस’ छपा था तो एक महिला ने अपने जीवन की एक घटना लिख भेजी थी। उसकी शादी एक व्यवसायी से हुई थी। शादी से पहले वह एक स्कूल में पढ़ाती थी। व्यवसायी पति ने उसकी नौकरी छुड़वाकर उसे अपनी एक कम्पनी में बतौर डायरेक्टर रख दिया। शादी के तीन साल बाद की बात है। एक बार वह सुबह के नाश्ते के लिए मेज लगा रही थी। तभी पति के मित्र का फोन आया जो उस कम्पनी का सारा कामकाज देखता था। कम्पनी के काम से बाहर जाते हुए वह एअरपोर्ट से फोन कर रहा था और उसने तीन चार क्लायंट्स को फोन कर एक जरूरी मेसेज देने के लिए कहा। हड़बड़ाहट में सुबह के नाश्ते के वक्त वह मेज पर नमक और काली मिर्च रखना भूल गई। पति ने न नमक मांगा और न खुद उठकर रसोई में जाकर लिया। जब ऑफिस से लौटे तो सूजा हुआ मुंह लेकर। बहुत पूछने पर उन्होंने दहाड़ कर कहा—मैं फीका नाश्ता करके गया, तुम्हें मेरे नाश्ते से ज्यादा जरूरी मेरे उस दोस्त का फोन सुनना लग रहा था। महिला ने बार-बार माफी मांगी। पर पति ने तीन दिन बाद उसके मां-बाप के पास जाकर उसकी शिकायत की कि वह ऐसी बदचलन औरत के साथ कैसे रह सकता है जो उसके दोस्त से बात करने में इतनी मशगूल हो गई कि उन्हें ढंग से खाना भी नहीं खिलाती और अगली बार ऐसा हुआ तो वह उसे तलाक दे देगा। तलाक का नाम सुनकर ही मां-बाप कांपने लगे। बेटा

को घर बुलाकर उसे हिदायतों का अच्छा खासा खर्चा सुना डाला। नमक को लेकर इतना बड़ा बवाल हो जाएगा कि बात उसके चरित्र तक पहुंच जाएगी—यह उसने सोचा नहीं था। अब उसकी शादी को तीस साल हो गए हैं। नमक के अलावा भी कई बार ऐसी ही छोटी बातों पर उसे जलील किया जाता रहा। हर बार तलाक की धमकी दी जाती। उसके बाद से वह मेज पर नमक रखना तो कभी नहीं भूली पर आज भी ‘नमक’ के जिक्र से ही उस महिला की नसों में सिहरन दौड़ जाती है।

दरअसल वह नहीं पहचान पाई कि नमक वहां सिर्फ ‘नमक’ नहीं था। सिर्फ नमक होता तो वह खुद उठकर ले लिया जाता या मांग लिया जाता। नमक वहां एक हाथ आया मुद्दा था जिसे हाथ में आने के बाद पति छोड़ना नहीं चाहता था और उसके लिए नमक का न होना ही ज्यादा जरूरी था। इस मुद्दे की डोर पकड़ कर ही पत्नी के चरित्र तक और तलाक तक पहुंचा जा सकता था।

एक पुरुष के लिए जहाँ घर सुविधाओं की शरणस्थली होता है, साथ ही रुआब जताने, शासन और नियंत्रण करने की जमीन, वहां एक औरत के लिए जिम्मेदारी निभाने का मुकाम और भावात्मक जुड़ाव का संबल। घर-परिवार के लिए ही वह अपना पूरा अस्तित्व होम कर डालती है और इसका उसे कोई मलाल नहीं होता क्योंकि ‘घर’ हमेशा पहली प्राथमिकता होता है।

यह सच है कि आज की युवा लड़की अपनी अस्मिता की कीमत पर समझौता नहीं करती। आज की लड़की में आत्मविश्वास पिछली पीढ़ी से कहीं ज्यादा है। यह आत्मविश्वास ही उसके जीवन का नमक है। अपनी स्थिति को मजबूत करने का उसमें जज्बा है। वह इस तरह की उपेक्षा, अवहेलना और अवमानना का प्रतिकार करना सीख रही है। एक हद तक वह इस स्थिति से बाहर निकल आई है क्योंकि वह अपने घर का ईंट गारा खुद बनाती है, इसलिए उन तमाम दबावों से बाहर होती है जो उसे कभी भी घर से बेघर कर सकते हैं। एक औरत का अधिकार है कि वह अपने घर में सम्मान के साथ बिना किसी दहशत और खौफ के जी सके।



साक्षात्कार

आत्मकथा लेखन स्त्री सशक्तीकरण की ओर बढ़ता पहला चरण है

आपके लेखन की शुरुआत कैसे हुई? क्या पारिवारिक वातावरण साहित्यिक था या आपकी ही रुचि साहित्य में थी?

मेरा जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ जहाँ माँ के जमाने में सोलह सत्रह साल में लड़कियों की शादी कर दी जाती थी। अपने सभी भाई बहनों में से मेरी माँ (जिन्हें हम बीजी कहते थे) पढ़ाई में काफी ज़हीन थीं। लाहौर की वैदिक पुत्री पाठशाला से हिन्दी में प्रभाकर (वही प्रभाकर की डिग्री जिसे हिन्दी के अग्रज रचनाकार विष्णु प्रभाकर ने अपने नाम का हिस्सा बना लिया था) प्रथम श्रेणी में पास कर चुकी थीं और साहित्य रत्न (जो एम.ए. की कक्षा के बराबर था) कर रहीं थीं। पढ़ाई के दौरान वे कविताएँ लिखा करती थीं और किताबों के बीच छिपाकर रखती थीं। उन दिनों कविता लेखन में साहित्य प्रेमी छात्राओं की रोल मॉडल महादेवी वर्मा थीं। माँ की कविताएँ भी महादेवी जी की छाप लिए थीं— कुछ रोमांटिक, कुछ विरह वेदना लिए। लेकिन महादेवी जी की छाप लिए हुए उस समय की जिन साहित्य प्रेमी छात्राओं ने जो कुछ भी लिखा, सब महादेवी जी की रचनाओं के सामने बिला गया।

माँ और पापा— दोनों ही साहित्य प्रेमी थे। पर जैसा कि मध्यवर्गीय

परिवारों में आम है- माँ ने शादी के बाद अपना साहित्य प्रेम घर की चूल्हा चक्की में और बच्चे जनने में झोंक दिया (और अपनी सारी रचनात्मक आकांक्षाएँ मुझमें पूरा करने के सपने देखने लगीं) हालाँकि खाली समय में वे साहित्यिक किताबें पढ़ती रहती थीं। हमारे घर विशाल भारत, विप्लव, चाँद, हँस पत्रिकाएँ नियमित रूप से आती थीं। कलकत्ता के आर्य विद्यालय में श्री प्रभुदयाल अग्निहोत्री पापा के हिन्दी शिक्षक थे और पापा उनके बेहद प्रिय और मेधावी छात्र थे। भोपाल के अग्निहोत्री जी से बहुत लंबे समय तक पापा का पारिवारिक संबंध रहा।

राजेंद्र यादव ने 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ' में आपके पिता से मित्रता की बात लिखी है। क्या लेखन की ओर रुझान उनके कारण भी हुआ?

हाँ, साहित्य में माँ और पापा के रुझान के अलावा कहानी लेखन के दो कारण थे- एक राजेंद्र यादव- जिनकी किताबें मेरे पापा जबरदस्ती मुझे पढ़ने को कहते और दूसरा- मेरी बीमारी, जिसे लेकर मैं पलंग पर लेटे लेटे डायरी लिखती रहती।

1955-58 में राजेंद्र यादव और मेरे पापा पुराने दोस्त थे। घर में हर रविवार को उनका आना तय था। मैं दस-ग्यारह साल की थी। लेखन की ओर रुझान का कारण सीधे सीधे राजेंद्र यादव बेशक न रहे हों पर एक लेखक के आस पास एक प्रभामंडल तो रहता ही था। हम बच्चे उन्हें चाचाजी कहते थे। आज भी मैं उन्हें चाचाजी ही कहती हूँ। और वह कहते हैं- भाड़ में गए चाचाजी, जब देखो तो हमला करती रहती हो, चाचा वाचा की ऐसी तैसी करती रहती हो। अभी 2009 की पहली जनवरी को मैं मन्नू जी के पास दिल्ली में थी। उनका फोन आया- मन्नू जी को नया साल विश करने के लिए। फोन मैंने उठाया तो उन्होंने मुझे नए साल की शुभकामनाएं दीं। मैंने भी कहा- नये साल में आप स्वस्थ रहें। तपाक से बोले- तुम स्वस्थ रहने दोगी तब न !

आप अपने लेखन से उन्हें अस्वस्थ कर देती हैं?

देखिए, मेरी उनसे कोई व्यक्तिगत दुश्मनी तो है नहीं बल्कि संपादकीय और वैचारिक लेखों में उनकी भाषा की मैं बड़ी प्रशंसक हूँ। उनकी जिंदादिली और सेंस ऑफ ह्यूमर तो लाजवाब है पर वह एक तरफ, आज यादवजी की स्त्री संबंधी अवधारणाओं से मेरा खासा मतभेद रहता है जिसपर मुझसे चुप रहा नहीं जाता। स्त्री संबंधी मुद्दों पर मेरा उनसे छत्तीस का आंकड़ा है। उनका स्त्री विमर्श एक निहायक भ्रामक और स्यूडो किस्म का बौद्धिक विमर्श है जिसका स्त्रियों के जीवन की वास्तविक समस्याओं

से न कोई सरोकार है, न कमिटमेंट। स्त्री समस्याओं की जानकारी तक तो है नहीं उन्हें। प्रतिबद्धता तो बहुत दूर की बात है। इस तरह के किताबी दर्शन और उधार के सिद्धांतों से स्त्रियों की ज़िन्दगी में कोई बदलाव आने से रहा। उनके दिए स्त्री विमर्श बनाम देह मुक्ति से हिन्दी साहित्य में वैचारिक धुंध ही बढ़ेगी।

अपनी बात पर लौटें... आपके लेखन की शुरुआत किस विधा में हुई?

उन दिनों यानी शुरू के दिनों मैं कविताएँ लिखती थी। अक्सर हम कविता को पीड़ा और व्यथा से जोड़ते हैं। मुझे लगता है, किसी भी रचनात्मक विधा के लिए एक कशिश या चोट का होना बहुत जरूरी है।

तेरह साल की उम्र से मैंने कविताएँ लिखनी शुरू कीं और हर साल अपने श्री शिक्षायतन स्कूल की वार्षिक पत्रिका में मेरी कविताएँ लगातार छपती और प्रशंसित होती रहीं।

यानी आपके लेखन की शुरुआत कविता विधा से हुई?

नहीं, शुरुआत तो डायरी विधा से हुई। कविताएँ भी डायरी में ही लिखीं पर डायरी तो छपवाने के लिए नहीं थी, तो स्कूल की पत्रिका के लिए कविताएँ दे दीं।

वे कविताएँ कहीं और भी छपीं? किसी साहित्यिक पत्र-पत्रिका में?

नहीं, बिल्कुल नहीं। तेरह साल की उम्र में मैंने - मैं नीर भरी दुख की बदली छाप कविताएँ लिखनी शुरू कीं जो बाद में नयी कविता के मुक्त छंद में बदल गईं। स्कूल की वार्षिक पत्रिका में छप जातीं और माँ-पापा खुश होते। वे कविताएँ निहायत बचकानी थीं पर स्कूल की पत्रिका में उन्हें खूब वाहवाही मिलती थी।

कहानी लेखन की ओर कैसे मुड़ गई? पहली कहानी कब और किस पत्रिका में प्रकाशित हुई?

कहानी लेखन की शुरुआत एक हादसे की तरह हुई। 1964 का वह दिन मुझे बहुत अच्छी तरह याद है जब चाचा नेहरू की मृत्यु हुई थी और सब रेडियो के इर्द-गिर्द सिमट आए थे। बड़े- बच्चे- बूढ़े सब बिलग्व रहे थे। मैं करीब एक सप्ताह से लगातार बीमार थी। बस, माँ ने हाथ में डायरी थमा दी। बिस्तर पर लेटे- लेटे प्रेम की एक काल्पनिक स्थिति ने जन्म लिया और एक भावुक सी कहानी लिख डाली। इस कहानी का शीर्षक था-“एक सेंटीमेंटल डायरी की मौत” जो मैंने 1963 में लिखी

थी। तब मेरी उम्र सत्रह साल थी। इसे लिख चुकने के बाद मैं अपनी बीमारी की हताशा से एक हद तक उबर आयी। लेखन एक बढ़िया निकास का जरिया (आउटलेट) हो सकता है, यह समझ में आ गया था। मेरे लेखन काल की यह सबसे कमजोर कहानी है।

कहानियाँ लिखने में मेरे माँ-पापा ने बहुत प्रोत्साहित किया। मुझे याद है, मैंने जब अपनी माँ को यह कहानी पढ़ने को दी तो वे पढ़कर रोने लग गयीं। कहानी के पात्र से सहानुभूति में नहीं, इस खुशी के अहसास से कि उनकी बिटिया ने कुछ लिखा है। पापा ने इसे पढ़ा तो सारिका में भेजने को कहा। सन् 1964 में 'सारिका' के सम्पादक चंद्रगुप्त विद्यालंकार थे। उन्होंने इस कहानी को स्वीकृत तो कर लिया पर साल भर तक प्रकाशित नहीं किया। जब तक यह कहानी छपी, तब तक मेरी तीन कहानियाँ अन्य स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी थीं।

इसमें संदेह नहीं कि कोई भी कला व्यक्ति को कुंठा, निराशा, हताशा, अकेलेपन की खाई से हाथ पकड़कर बाहर निकालने में सहायक होती है। इस कहानी ने भी मेरे लिए संजीवनी का काम किया।

बाद में 1966 में मैंने इसी कहानी की बीमारी पर एक गैर भावुक कहानी 'निर्मम' लिखी जो कलकत्ता से प्रकाशित पत्रिका 'ज्ञानोदय' अगस्त 1966 में छपी थी। इस बीच 1964-1967 तक धर्मयुग, सारिका, कहानी, माध्यम, कल्पना, लहर, उत्कर्ष, युयुत्सा, शताब्दी, रूपाम्बरा आदि कई पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ छप गई थीं। दिसंबर 1967 में ही मेरा पहला कहानी संग्रह- 'बगैर तराशे हुए' छप गया था, जब मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय में एम.ए. की छात्रा थी। दो साल मैंने कलकत्ता वि.वि. के हिन्दी विभाग की पत्रिका 'प्रक्रिया' का सम्पादन भी किया। प्रो. विष्णुकांत शास्त्री जैसे अद्भुत प्राध्यापक से पढ़ने का अवसर मिला। वे हमें तुलसी पढ़ाते थे। मैं उनके प्रिय छात्रों में थी। गज़ब की स्मरणशक्ति थी उनकी और बेहद प्रभावी वक्ता थे वे।

1965 में ज्ञानोदय में छपी आपकी पहली कहानी 'मरी हुई चीज़' काफी चर्चित रही। यह कहानी कैसे लिखी गयी?— और उसके बाद की कहानियाँ?

यह पहली लिखी हुई कहानी नहीं थी। जैसा कि उस उम्र में स्वाभाविक था, व्यक्तित्व जीवन में किसी कथानायक की उपस्थिति के बिना ही मैंने कुछ गढ़ी हुई प्रेमकथाएँ और कविताएँ लिखीं। उन्हीं में से एक कहानी थी— मरी हुई चीज़, जो मेरी पहली प्रकाशित कहानी थी और कलकत्ता से ही प्रकाशित पत्रिका- ज्ञानोदय के सितंबर

1965 अंक में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी का कथानक बिल्कुल काल्पनिक था। मेरे दादाजी स्थायी रूप से हरिद्वार शिफ्ट हो गए थे और हम तीन-चार भाई बहन हर साल छुट्टियों में हरिद्वार, ऋषिकेश, देहरादून, मसूरी जाया करते थे। यात्रा संस्मरण लिखने की कोशिश को मैंने कहानी विधा में ढाल दिया। उन दिनों मुझे कहानी लेखन का क-ख-ग भी मालूम नहीं था, पर इस कहानी पर मिली अप्रत्याशित प्रतिक्रियाओं ने एकाएक मुझे लेखिका के आसन पर बिठा दिया। मुझे अपनी शुरुआती कहानियाँ बेहद बचकानी लगती हैं। मैंने उन कहानियों को कभी पहले संग्रह के अलावा कहीं संकलित नहीं होने दिया।

आपने काफी छोटी उम्र में सारिका— धर्मयुग में छपना शुरू कर दिया था और चर्चित भी रहीं।

मैं आज भी समझ नहीं पाती कि उन कहानियों में चर्चित होने जैसा क्या था! एक वजह शायद यह भी रही होगी कि उस वक्त हिंदी लेखन के परिदृश्य पर लेखिकाएँ उंगलियों पर गिनी जाने लायक थीं। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती और उषा प्रियंवदा के बाद उभरती पीढ़ी में सिर्फ ममता अग्रवाल और अनीता औलक का नाम था। मुझे इन उभरते नामों के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज कराने का जरा भी अंदेशा नहीं था। उन दिनों तो मैं एक जुनून की तरह लिखती थी। मौत, निराशा और अवसाद से उबरने का मुझे एक आउटलेट मिल गया था।

सन् 1968 के बाद मैंने कहानी लेखन को गंभीरता से लेना शुरू किया और बलवा, युद्धविराम, दमनचक्र, तानाशाही, महानगर की मैथिली, सात सौ का कोट आदि कहानियाँ लिखीं। किशोर अवस्था की भावुकता और काल्पनिक रूमानी माहौल से बाहर आकर वे कहानियाँ अपेक्षाकृत ठहराव से लिखी गयीं। ये कहानियाँ मेरे नजरिये के व्यापक होने का प्रमाण थीं। कलकत्ता में रहते हुए वामपंथी विचारधारा से जुड़ाव महसूस करना स्वाभाविक था। तभी कहानियों के विषय 'स्व' से निकलकर सामाजिक सरोकारों की ओर बढ़े।

आपकी समकालीन लेखिकाओं ने अपेक्षाकृत अधिक रचनाएँ—कहानियाँ उपन्यास लिखे हैं। आपने कम ही लिखा है, इसके पीछे कोई खास वजह?

हाँ, एक दौर ऐसा आया जब मैंने 1981 से 1993 तक कुछ नहीं लिखा। किसी साहित्यिक पत्रिका में एक पत्र तक नहीं। सन् 1979 में एक कहानी लिखी थी— 'बोलो, भ्रष्टाचार की जय' जो साप्ताहिक हिन्दुस्तान में 1981 में छपी थी। 1981

के बाद कई पारिवारिक उलझनों के चलते मेरे लेखन पर पूरी तरह पूर्णविराम लग गया। कोई एक कारण नहीं था। बहुत से कारण एक हो गए थे। उन्हें एक पैराग्राफ में बताया नहीं जा सकता। एक तरह का मेन्टल ब्लॉक था- मानसिक अवरोध- जिसका कारण मैं पूरी तरह पहचान नहीं पा रही थी। यह वह समय था जब लेखिकाओं की एक बड़ी जमात पूरे दम खम के साथ साहित्यिक परिदृश्य पर उभर रही थी और मैं लेखन के क्षेत्र से अपना बोरिया बिस्तर समेट चुकी थी। पर जो कुछ भी पहले लिखा, वह पाठकों के जेहन में अपनी जगह बना चुका था।

वैसे भी मैं उस तरह से दस से पाँच की रूटीन बनाकर लिखने वालों में से नहीं हूँ। इसीलिए मेरा लेखन नियमित नहीं हो पाता। ज्यादा नहीं लिख पाई, इसका अफसोस नहीं पर बहुत सी चीजें अधूरी लिखी रह गई, जिसे अब पूरा करना चाहती हूँ।

लेखन से कई कई बार मेरा मोहभंग हुआ है। 1979 के बाद का दौर भी कुछ ऐसा ही था। लेखन बंद करने के वे ग्यारह-बारह साल बेहद त्रासद थे। अब लगता है कि मोहभंग के बाद चुप हो जाना तो कोई इलाज नहीं। जो चीजें मोहभंग करवाती हैं, उनके प्रति मुखर होकर असहमति भी तो दर्ज की जा सकती है।

अब जब दोबारा मोहभंग की स्थिति आई तो मैंने मुखर होने का रास्ता चुना। इतनी सद्बुद्धि 1980 के आसपास आती तो बहुत सी किताबें मेरे नाम के साथ जुड़ी होतीं। ऐसा खालीपन न व्यापता। पर यह भी सच है कि लेखन बंद न होता तो शायद इस हाइबरनेट की प्रक्रिया से भी गुजरना न होता, चीजों की समझ इतनी स्पष्ट न होती, दोबारा शुरू किया गया लेखन इतना इन्टेन्स, धारदार न होता। हर काम का अपना समय होता है, एक कार्य कारण प्रक्रिया होती है।

आपने अपनी कहानियों में भी स्त्री जीवन के विविध पक्षों को गंभीरता से रेखांकित किया है। क्या इन कहानियों को लेकर खास दृष्टि या विचार था लिखते हुए ?

उर्मिला, तुम तो खुद इतना लेखन कर चुकी हो। विचारधारा को सामने रखकर कहानी गढ़ी जा सकती है क्या? किसी विचारधारा के तहत मैंने कुछ नहीं लिखा। मुझसे कहानी तब तक नहीं लिखी जाती जब तक वह खुद बगावत कर सिस्टम से बाहर आने के लिए छटपटाने न लगे। कहानियाँ लिखना मैं भरसक टालती रहती हूँ। कहानियाँ लिखना अब मेरी प्राथमिकता नहीं रह गई है।

1996- 97 में जब मैंने दैनिक अखबार 'जनसत्ता' में साप्ताहिक कॉलम

'वामा' लिखा, तभी पाठक और खास तौर पर पाठिकाओं से मिली प्रतिक्रियाओं से मुझे यह समझ में आ गया कि इस तरह के एक पृष्ठीय स्तंभों की कितनी जरूरत है। 1993 में ही मैं 'हेल्प' महिला काउंसिलिंग सेंटर से जुड़ चुकी थी तो मेरा काम और लेखन एक दूसरे का पूरक बन रहा था। इस दौरान मेरी बहुत छोटी सी कहानियों ने मुझे जो पहचान दी, उसका कारण बहुत साफ था। 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' चार पन्नों की छोटी सी कहानी थी पर वरिष्ठ कथाकार चिंतक मुद्राराक्षस ने जिस तरह उसका नौ पृष्ठों में विस्तृत विश्लेषण किया, चंडीगढ़ के प्रख्यात वरिष्ठ नाट्यकर्मी गुरुशरण सिंह जी ने आठ मार्च को महिला दिवस के अवसर पर चंडीगढ़ वि.वि. में पंजाबी भाषा में उसका मंचन किया, यह सब मेरे लिए अप्रत्याशित था। मेरी ये छोटी-छोटी कहानियाँ मेरे जमीनी काम के नतीजे के रूप में सामने आयी थीं इसलिए शायद उन्होंने पाठकों से फौरन एक जुड़ाव स्थापित कर लिया। 'रहोगी तुम वहीं' तो न जाने कौन कौन सी विदेशी भाषा में नुक्कड़ नाटक की तरह खेली जा रही है। अंग्रेजी में सईद जाफरी ने नेहरू सेंटर में इसका अभिनय पाठ किया। चेक और इतालवी भाषा में भी इसका मंचन हुआ।

लेखन के साथ साथ आप समाजसेवा के अन्य कार्यों में सक्रिय रहती हैं। क्या यह एक कारण है रचनात्मक लेखन में अवरोध का ?

लगभग सत्रह सालों से मैं महिला सलाहकार केंद्र में सक्रिय हूँ। महिलाओं की अनगिनत समस्याएँ हैं।

काउंसिलिंग का काम बहुत आसान काम नहीं है। यह आपकी बहुत सारी ऊर्जा सोख लेता है। पर इससे आंतरिक संतोष भी बहुत मिलता है। सन् 2004 में शुरू किया गया 'औरत की दुनिया' स्तंभ न होता तो शायद दुबारा मेरे लेखन में एक स्थायी अवरोध आ जाता। इसके लिए मैं कथादेश सम्पादक हरिनारायण की तहे दिल से शुक्रगुजार हूँ। निजी दुनिया और लेखकीय दुनिया में टकराव चलता रहता है। कलम कई बार निजी दुनिया के झंझावातों में पतवार का काम करती है।

आजकल रचनात्मक लेखन में आए अवरोध को तोड़ने की कोशिश में हूँ। कई कहानियाँ और दो उपन्यास अधूरे हैं। कभी कोई कहानी एक सिटिंग में लिख ली जाती है- जैसे रहोगी तुम वहीं, कभी दस-पन्द्रह दिनों में, कभी एक कहानी को पूरा करने में कई साल लग जाते हैं।

क्या किसी भी कलाकार या लेखक का सामाजिक जीवन में, आन्दोलन में भाग लेना, हस्तक्षेप करना आवश्यक है। क्या इससे लेखन प्रभावित नहीं होता है?

अपनी अपनी प्राथमिकताएँ हैं। मेरे लिए सामाजिक जिम्मेदारी (चाहे वह परिवार के प्रति हो या किसी परेशानी में घिरी महिला के प्रति— निभाना मेरी पहली जरूरत है। आप अपने बंद कमरे में बैठकर अपनी रोजमर्रा की विशिष्ट कथाएँ लिखते रहें और कहें कि स्त्री संघर्ष के बारे में लेखनकर्म सबसे सेलेबल मुद्दा है इसलिए सब पिल पड़े हैं स्त्री विमर्श पर। कभी सामाजिक फलक पर बाहर आकर देखें तो साहित्य में किया जा रहा स्त्री विमर्श बहुत बौना लगने लगेगा। जितना काम सामाजिक कार्यकर्ताएँ कर रही हैं, उससे सौ गुना काम की जरूरत है। वह काम सामने हो तो मुझे कहानियाँ-कविताएँ लिखना अय्याशी लगने लगता है।

मैं कलावादी लेखन की हिमायती नहीं हूँ। हालांकि जैसे अच्छा शास्त्रीय संगीत हमें भीतर तक बाँध लेता है वैसे ही लेखन में कलात्मकता भी। पर शुद्ध लफ्फाजी और बौद्धिकता का वाग्विलास मुझे आलोड़ित नहीं करता। समाज की बुराइयों और विसंगतियों की ओर कटाक्ष करना ही तो लेखनकर्म है और इसकी पहली शर्त लेखक का ईमानदार होना है। आज इन ईमानदार लेखकों की संख्या में लगातार आती कमी चिन्ता का विषय है।

कथादेश में 'औरत की दुनिया' स्तंभ में कई बार विवाद खड़ा हुआ है। इन चेहरों के पीछे के चेहरों का सच पाठक समाज को ही नहीं हम सबको भी चौंकाता है इस मुहिम में आपको किस तरह के विरोधों का सामना करना पड़ा?

कई बार नहीं, सिर्फ एक ही बार विवाद खड़ा हुआ है, क्योंकि उसमें नाम लेकर लिखा गया। जब लेखक बिरादरी के कई लोगों ने अपना विरोध जताया तो कई दिन मैं सचमुच बेचैन रही कि शायद मैंने ठीक नहीं किया। लगा, इसे सामने लाकर जैसे मैंने ओखल में सिर दे दिया है, दनादन मूसलों की बौछार शुरू हो गई। बाद में कई छोटे बड़े शहरों में कुछ युवा प्राध्यापिकाओं ने बधाई दी कि आपने बिल्कुल सही किया, ये महानुभाव तो हमसे भी प्रणय निवेदन कर चुके हैं। यानी महान और प्रतिष्ठित लेखक कलाकार ऐसा आत्ममुग्ध प्राणी है कि वह लगातार इस मुगालते में जीता है कि वह जिससे भी प्रणय निवेदन करे, वह महिला अपने को धन्य समझेगी। उस प्रतिष्ठित कवि की कविताओं की मैं भी बेहद प्रशंसक हूँ पर रचयिता और

जीवन जीने वाले लेखक में अगर इतनी बड़ी फाँक है तो वह सामने आनी ही चाहिए। इस पूरे प्रसंग पर आई प्रतिक्रियाओं ने एक बार फिर पुरुषप्रधान सत्ता का चेहरा बेनकाब कर दिया। जो लोग पहले बड़े सम्मान से बात करते थे, वे भी तल्ल हो गये। अधिकांश की चादरों में छेद हैं। एक को बेनकाब होते देख डर जाते हैं कि कहीं अगला नम्बर हमारा न हो। हमारा असली चेहरा भी कहीं उजागर न हो जाए। जबकि डरने की कोई वजह नहीं है। पत्नियाँ तो आखिरी दम तक घर तोड़ना नहीं चाहतीं। अपनी जबान पर ताला लगना तो बहुत छोटी सी कीमत है इसकी। जो पत्नी घर से बाहर निकल आई, वही मुँह खोलने का साहस कर सकती है वर्ना सहने और ताउम्र चुप रहने वाली औरतों की तादाद तो सौ गुना ज्यादा है। इस एक के बहाने, मैंने उन सब की तकलीफ को जबान देने की कोशिश की जो अपने को खत्म करती हुई साथ रहती हैं, और चुप हैं— अपने बच्चों के डर से, सामाजिक सुरक्षा के डर से, सर से छत हट जाने के डर से। इन सारी औरतों को अगर एक के मुँह खोलने से थोड़ी सी भी ताकत मिलती है तो इस एक का मुँह खोलना, अपने को उघाड़ना समाज के हित में है।... और यह तो सिर्फ शुरुआत है, धीरे धीरे बहुत सारे सच आने अभी बाकी हैं। आखिर आप कब तक घर की औरत को 'टेकेन फॉर ग्रांटेड' लेते रहेंगे?

अफसोस इस बात का है कि तथाकथित प्रगतिशील सोच वाली बहुत सी औरतें भी इसी सामंती पुरुष प्रवृत्ति को प्रश्रय देती हैं। अधिकांश लोग महिला को ही दोष देते हैं कि जिसने बयान दिया है— वह खुद भी बहुत एग्रेसिव थी। माना, थी। तो आप मानते हैं न कि एग्रेसिव होने का अधिकार सिर्फ पुरुषों का है। यानी भारतीय पत्नी होकर भी उसने अपना परम्परागत मान्य सहनशीला का रोल नहीं निभाया (कलाकार पति समझता है जैसे एक औरत से शादी करके बहुत बड़ा अहसान किया है उस पर) कोई नहीं जानता कि बोल पाने की स्थिति तक पहुँचने से पहले एक औरत कितना झेल चुकती है, उसका पूरा बयान आपके रोंगटे खड़े कर देगा।

स्त्री को लेकर आप पिछले कई वर्षों से लगातार लिखती आ रही हैं। अलग-अलग क्षेत्रों की स्त्रियों के शोषण की कहानी तथा उनके अहम संघर्ष को रेखांकित करने के पीछे क्या कोई खास वजह है? या आप महसूस करती हैं कि स्त्री अब भी उसी पितृसत्तात्मक समाज द्वारा शोषित की जाने वाली महज वस्तु है?

यह एक लंबी बहस का मुद्दा है। शोषित वर्ग की स्त्री के लिए हम काम करते हैं तो

हम अपना अपना दायरा चुन लेते हैं। मैं अगर लेखन के माध्यम से अपना योगदान देना चाहती हूँ तो वहाँ भी मेरी अपनी सीमाएँ हैं। डॉ. आंबेडकर ने कहा है,— शोषित को यह पहचान दिला दो कि उसका शोषण हो रहा है, विद्रोह करना वह अपने आप सीख जायेगा। कहानियों के साथ भी यही होता है। लेखक को रास्ता बताने की जरूरत नहीं होती, बस, यह बताना है कि स्थितियाँ ऐसी हैं— चुनाव आपका है, उन्हें झेलते चले जाना है या उनसे बाहर निकलना है, यह रास्ता तो पाठक अपने नजरिये से अपने आप ढूँढ लेगा।

मनू भंडारी ने 'कथादेश' सितंबर 2007 में लिखा था—

“आज तक स्त्री अपने ऊपर हुए अत्याचारों को सहती थी और मौन रहती थी। उसके मौन ने ही पुरुष को खुली छूट दे रखी थी कि वह स्त्री को जैसे चाहे, प्रताड़ित करे। अच्छा है कि तुम्हारा यह स्तंभ कम से कम स्त्रियों को मुँह खोलने के लिए प्रेरित तो कर रहा है। पुरुषों की सामंती और दंभी मनोवृत्ति को उघाड़ना चाहिए। विशेष रूप से उन पुरुषों की— जो सभ्यता, आधुनिकता और महानता के लबादे ओढ़कर, क्रांतिकारी मुखौटा लगाकर स्त्री विमर्श के नाम पर समाज में, अपनी रचनाओं में तो स्त्री के बराबरी के, उसकी समानता के झंडे बुलंद करता रहता है पर निजी जीवन में...? मुझे पूरा विश्वास है कि जब स्त्रियाँ अपने निजी को सार्वजनिक करने लगेंगी, बिना किसी खौफ और डर के सब कुछ उजागर करने लगेंगी, तो इन पुरुषों के व्यवहार पर जाने— अनजाने अंकुश तो लगेगा। लेकिन यह प्रक्रिया बेहद धीमी है, इसको एक गति देने की जरूरत है।”

एक असीमा भट्ट ने अपनी बात कही, पचास कवि-लेखकों की पत्नियों ने कहीं न कहीं अपने आप को उसके साथ आइडेंटिफाई किया। एक प्रौढ़ा पत्नी, जो जिंदगी भर पिटती रहीं, अपने कथाकार पति से बोलीं—“इतने बरस हमने आपकी मार झेली, अब आपने हाथ उठाया तो हम कहे देते हैं, हमारा भी हाथ उठ जाएगा।” उनसे मैंने पूछा— आप इतने साल मार खाती रहीं, आपकी आवाज कभी बाहर नहीं आई? आप बाल्कनी में जाकर चिल्लाई नहीं? उन्होंने बताया कि इतने साल तो वे पति को हिंसक मुद्रा में आते देख घर के सारे खिड़कियाँ दरवाजे बंद करने लगती थीं कि आवाज़ बाहर न जाए।

पति के सम्मान की रक्षा करने में औरत अपनी देह में दम रहने तक पति की हिंसा भी झेल लेती है। तो यह बोलने का जो हौसला आज मिला, वह कहाँ से आया? जाहिर है, सुगंधि और सखुबाई या रिंकी भट्टाचार्य की आत्मसंघर्ष कथाओं ने जो जमीन तैयार की थी, असीमा की कथा ने उसे पुख्ता किया क्योंकि यहाँ किरदार

जाने पहचाने थे।

अभी भारतीय ज्ञानपीठ से मेरी किताब 'औरत की कहानी' आई है जिसमें परिचय में पीछे मेरा फोन नम्बर दिया है। आए दिन ऐसी लड़कियों के फोन आते रहते हैं—किसी की शादी को चार साल हुए हैं, किसी की शादी को चौबीस साल। तकलीफ सबकी एक ही है कि हममें प्रतिभा थी, हम पढ़ना लिखना चाहते थे, कहीं पति, कहीं ससुराल वालों ने, कहीं पारिवारिक जिम्मेदारियों ने ऐसा उलझाया कि अपना पूरा समय उन्होंने घर गृहस्थी में झोंक दिया। उस किताब के वक्तव्यों ने अनगिनत औरतों को प्रेरित किया। जो औरतें पारिवारिक दबाव तले, अपनी जिन्दगी में से रचनात्मकता और प्रतिभा को एक तरफ बुहार कर फेंक देती हैं, किसी मोड़ पर आकर अपना आधा अधूरापन उन्हें इस कदर निगलने को आता है कि वे एक छटपटाहट में अपने हाथ से छूटकर जाता सब कुछ बचा लेना चाहती हैं। एक डेस्पेरेशन उनमें दिखाई देता है। साहित्य के क्षेत्र में लगातार बारह चौदह साल की अपनी चुप्पी में कहीं मैं भी इसी स्थिति से गुजरी हूँ इसलिए उन सभी औरतों से अपने को रिलेट कर पाना आसान हो जाता है।

सुधा दी, कई स्त्रियों का आत्म संघर्ष पढ़कर आपको नहीं लगा कि जिस समय उन्हें शोषण करने वाले पुरुष के खिलाफ आवाज उठानी चाहिए थी, उस समय खामोश रहकर अत्याचार और अन्याय सहन करती जाती हैं... और बाद में जब वह उन तमाम बातों, घटनाओं या व्यवहार के बारे में लिखती हैं तो अपनों से लेकर परायों तक— सब उसके खिलाफ हो जाते हैं, ऐसा क्यों!

आवाज तो तब उठे न जब यह पहचान हो कि शोषण हो रहा है। जहाँ पहचान ही नहीं, वहाँ सारी ऊर्जा तो स्थितियों को संभालने और उन्हें अपने तई ठीक करने, अपने को उन स्थितियों के अनुरूप ढालने में ही खर्च हो जाती है। तो आवाज किसके खिलाफ उठे बल्कि औरतें तो अपनी आवाज को दबाने में ही अपनी सारी जमा ताकत खत्म कर डालती हैं। एक स्त्री के साथ अकेला उसका अपना ही नहीं, कई लोग, कई परिवार जुड़े होते हैं। अत्याचार सहती हैं ताकि माँ-बाप तक उनकी कराह न पहुँचे। पहुँच गयी तो छोटी बहन की शादी नहीं होगी। भाई भाभी मखौल उड़ाएंगे। फिर अपने बच्चे। खंडित परिवारों में बच्चों की क्या दुर्दशा होती है, यह हर औरत जानती है। बच्चों का भविष्य, बच्चों का सही और स्वस्थ मानसिक विकास, बच्चों का केरियर— यह सब एक बाप का इतना बड़ा सरोकार नहीं होता जितना माँ का...।

यह कौन नहीं जानता उर्मिला कि हर औरत अपने भीतर की एक एक बूंद सुखा डालती है कि घर न टूटे, हर नकारात्मक स्थिति को वह इनोर करती है क्योंकि घर को उसे हर कीमत पर बचाए रखना है। सेचुरेशन पाएंट पर पहुँच कर ही वह कोई निर्णय लेती है— और वहाँ से संघर्ष का एक दूसरा चरण शुरू होता है क्योंकि हमारा समाज ऐसे ही लोगों से बना है जहाँ औरतों को ही गलत ठहराने की लोगों को आदत हो गई है। उसके बोलते ही उस पर प्रहार शुरू होते हैं। चरित्र पर लांछन लगाना सबसे सीधा आसान हथियार है। औरत को बदचलन ठहरा दो, लेस्बियन घोषित कर दो, हर आदमी भरोसा कर लेगा क्योंकि इसमें पुरुष को अपनी करतूतों पर परदा डालने में सुविधा होती है। मेरी दादी कहा करती थीं— किसी औरत की जलती हुई चिता के पास कोई राहगीर पेड़ के नीचे खड़ा सुस्ताता दिख जाए, लोग कहेंगे, जरूर इस औरत का प्रेमी होगा तभी यहाँ आकर खड़ा है। अपनी चिता तक एक औरत उस तरह के लांछन झेलती है।

लेखक अंततः समाज को ही प्रतिबिंबित करता है तो वह समाज के प्रति कितना जिम्मेदार होता है? उसकी नैतिक जिम्मेदारी को आप किस रूप में देखती हैं?

लेखक अगर सामाजिक जिम्मेदारी महसूस नहीं करता तो उसे शब्दों से खिलवाड़ करने वाला कलाबाज या लफ्फाज कहना चाहिए। लेखक कहलाने का हकदार वह तभी होता है जब उसका लेखन समाज में कुछ सकारात्मक देता है, समाज को दिग्भ्रमित नहीं करता— जैसे आजकल 'हंस' पत्रिका के संपादक राजेंद्र यादव कर रहे हैं। भारत के और पश्चिम के महान रचनाकारों के उदाहरण देकर यह बताना कि वे अगर परिवार के प्रति गैर जिम्मेदार रहे, जिन्होंने अपनी पत्नियों को छोड़ छोड़कर बाहर एकाधिक संबंध बनाए तो उन्हें रोल मॉडल की तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, निहायत गलत अवधारणा है। किसी भी बड़े कलाकार या रचनाकार या गायक ने अपनी बदचलनी को महिमामंडित नहीं किया या उसे प्रतिमान नहीं बनाया जो हमारे हिन्दी साहित्य के ये बुजुर्ग साहित्यकार कर रहे हैं। आज साहित्य में और लेखन में हम जिस अपसंस्कृति के दौर से गुजर रहे हैं, उसमें अधिकांश लेखक सिर्फ अपनी जोड़-तोड़, पुरस्कारों की सांठ-गांठ, समीक्षकों की चापलूसी और अन्ततः अपने लिखे हुए को प्रमोट करने में लगे हैं। इससे साहित्य में गिरावट ही आएगी और अन्ततः साहित्य अपनी गरिमा खो देगा।

आलोचना का जो चलन चल रहा है क्या आपको लगता है कि उससे रचनाओं या रचनाकारों का सही मूल्यांकन हो पा रहा है? देखा जा रहा है कि अपने अपने गढ़ में लेखकों को हर हाल में महान सिद्ध करने की परम्परा चल रही है! आप पूरे परिदृश्य को लेखक और आलोचक के संदर्भ में किस तरह देखती हैं?

साहित्य का पूरा परिदृश्य ही एक पतनशील संस्कृति को परोस रहा है तो आलोचना उससे अछूती कैसे रह सकती है पर प्रमोशन तात्कालिक हो सकते हैं, पूर्णकालिक नहीं। अपने-अपने गढ़ के लेखकों को पुरस्कार दिलवा देना या उनकी पुस्तकों पर दो-चार बिकाऊ समीक्षकों से संस्तुति करवा लेना एक निहायत तात्कालिक उपलब्धि है। जैसे देकर पुरस्कार खरीद लेना या किसी नामालूम सी पत्रिका का पूरा अंक अपने पर केंद्रित करवा लेना किसी मीडियाकर लेखक को महान साबित नहीं कर सकता। आपके लेखन की उम्र का सही मूल्यांकन समय ही करेगा। समय ही सबसे निष्पक्ष आलोचक और निर्णायक है। आप पिछले सौ सालों का इतिहास देख लें। समय की गर्त में क्या बचा रहा और क्या बिला गया, यह साफ साफ दिखाई दे रहा है। आज के हालात से किसी भी संवेदनशील रचनाकार का उद्वेलित होना स्वाभाविक है पर आज के भ्रष्ट माहौल में इसका कोई तोड़ दिखाई नहीं देता सिवाय एक विशफुल थिंकिंग और आशावादी इंतजार के कि अन्ततः यह समय बदलेगा और समीक्षा, आलोचना, व्यक्ति केंद्रित विशेषांक बिकाऊ कमोडिटी नहीं होंगे।

आप जिनके हक में खड़ी होकर लड़ रही हैं या जिनके प्रति आपकी पक्ष धरता है, क्या उसमें आप सफल होंगी? या आलोचना— आक्षेप ही आपकी इस संघर्ष यात्रा में साथ चलेंगे?

विरोध सिर्फ पुरुषों की ओर से ही नहीं, औरतों की ओर से भी हुए। स्त्रियों का भी पूरा फोकस इस पुरुष व्यवस्था का हिस्सा बनने में है। पुरुष सत्ता को पनपाने में औरतों की एक महत्वाकांक्षी जमात अपना कंधा देती है। पुरुष सोच वाली औरतों के सहयोग के बिना पितृसत्ता पनप ही नहीं सकती। एक स्त्री की प्रताड़ना के लिए क्या केवल पुरुष ही जिम्मेदार होता है? ऐसी स्त्रियों की संख्या भी कम नहीं, जो दूसरे खेमे में बाकायदा पुरुषसत्ता का आधार स्तंभ बनी खड़ी होती हैं और उसकी छत्रछाया तले अपने को सुरक्षित महसूस करती हैं। स्त्रीवादी आंदोलनों में यह अध्याय अभी उघाड़ना बाकी है जिसमें इन औरतों के अपराधी चरित्र और भागीदारी का खुलासा किया जाना चाहिए। माना कि समाज में अच्छे, ईमानदार, भरोसा करने

वाले लोगों की तादाद ज्यादा है पर बुराई अपने लिए एक छोटा सा कोना ढूँढकर भी इस तरह जड़ें जमा लेती हैं और अपने वायरस से एक अच्छे खासे समाज में इतना ज्यादा खलल डालती हैं कि इन नामलूम से ओनो कोनों को अब नजर अंदाज नहीं किया जाना चाहिए। इनकी भी पहचान बहुत जरूरी है। बेहतर समाज के निर्माण को रोकने में औरतें भी बेहद शातिर तरीके से बखूबी अपनी नकारात्मक भूमिकाएँ निभाती हैं। मेरा विरोध औरतों की इस जमात से भी है।

लेखक/कलाकार समाज की तलख सच्चाइयाँ उभरकर सामने आने से क्या इस वर्ग में कोई फर्क पड़ा है? या महज 'चर्चा' में बातें आई गई हो गयीं?
आप सदियों पुरानी पुरुष सत्ता का रुख बदलना चाहते हैं तो कुछ दिनों या महीनों में तो समाज बदलने वाला नहीं है। अगर इन तलख सच्चाइयों के सामने आने से कोई फर्क पड़ने की गुंजाइश न होती तो इसका विरोध भी न होता। कई कवि कथाकारों की पत्नियों ने मेरा फोन नम्बर ढूँढकर अपनी परेशानियाँ बताईं।

नैनीताल में महिला समाख्या के कार्यक्रम में मैंने 'जिसके निशान नहीं दीखते यानी चुप्पी की हिंसा' पर लंबा आलेख पढ़ा था। जहाँ एक ओर पुरुषों की जमात में अजीब सी खलबली, बेचैनी नजर आई, वहीं औरतों ने कहा कि यह तो हमारे घर में रोज का किस्सा है, जिसकी समझ हमें नहीं थी, आपने हमारी बात कह दी।

घर में अर्थ कमाकर लाने वाला व्यक्ति अपने घर में तानाशाह की तरह व्यवहार करता है और आईना देखना उसे गवारा नहीं। इस का संस्कार ही नहीं होता उसमें। लेकिन जो एक बहुत बड़ा पॉजिटिव बदलाव दिखाई दिया, वह उन पुरुषों के नजरिये में- जो संवेदनशील हैं और अपने को बदलना चाहते हैं।

अगले दिन ब्रेकफास्ट के समय एक स्थानीय वरिष्ठ रचनाकार श्री सिद्धेश्वर प्रसाद सिंह बोले- आपके लेख का एक पैराग्राफ मुझे भीतर तक छू गया। मैं अब वह नहीं रह गया जो कल तक था। सचमुच जब मैं लिख रहा होता था और कमरे में मेरी पत्नी चाय का कप उठाने या बच्चा खेलते खेलते आ जाता था तो मैं इतनी जोर से चिल्लाता था जैसे घर सिर्फ मेरा है, उनका नहीं। अब मैं आपकी बात याद रखूंगा। एक युवा लेखक ने कहा- दीदी, मैं सच कहता हूँ, आज के बाद से मैं कभी अपनी पत्नी के पकाए खाने में बेवजह नुक्स नहीं निकालूँगा।

अभी मुंबई की एक लघुपत्रिका 'सृजन संवाद' में मेरी डायरी के कुछ

अंश छपे थे। एक दिन उसके संपादक प्रो. संजीव दूबे ने फोन पर बताया- "मेरी पत्नी डॉक्टर के पास जा रही थी। मैंने उसे रोककर कहा- मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। मुझे आपकी लिखी बात याद आ गई कि ये पति नहीं जानते कि उनकी पत्नियों की आधी बीमारी तो उनके पतियों के साथ चलने भर से ठीक हो जाती है।" तो चीजें बदल तो रही हैं धीरे-धीरे...

लेकिन एक तलख सच्चाई यह भी है कि बदलाव उन्हीं में आएगा जो अपने को बदलना चाहते हैं। जो अपने पौरुषीय अहंकार और शॉविनिज़्म को 'फेदर इन द कैप' की तरह सजाकर बैठे हैं, वे अपने अहंकार को अपने साथ ही अपनी कब्र तक ले जाएंगे। जो अपने को बदलना चाहते ही नहीं, उन्हें कोई क्या खाकर बदलेगा?

इधर हिन्दी में महिला रचनाकारों की आत्मकथाएँ काफी आई हैं। चर्चित भी रही हैं। क्या आपकी भावी योजनाओं में आत्मकथा लेखन है।

हैं, लेकिन अभी नहीं। आत्मकथा लेखन के लिए अपने जीवन, अपनी पीड़ा से एक दूरी और निर्लिप्तता बनाए रखना जरूरी है, वह मैं अभी तक नहीं कर पाई हूँ। आत्मकथा लेखन के लिए यह भी जरूरी है कि आप अपने प्रति और अपने जीवन में महत्व रखने वाले लोगों के प्रति पूर्वाग्रह रहित हों। मुझमें दोनों ही गुण अभी विकसित नहीं हो पाए हैं। कई चीजों और स्थितियों के प्रति मेरे मन में अब भी बहुत से पूर्वाग्रह और दुराग्रह हैं। ऐसी मानसिकता में आत्मकथा नहीं लिखी जानी चाहिए। इसलिए सिर्फ डायरी लिखती हूँ क्योंकि डायरी लेखन में तटस्थता और दूरी बनाने की जरूरत नहीं। आप डायरी में अपना गुस्सा, भर्त्सना, आत्मदया, आत्मधिकार, आत्ममुग्धता- सब कुछ बेखौफ उड़ेल सकते हैं क्योंकि उसे प्रकाशित करवाने की बाध्यता नहीं होती।

हिन्दी में जिन महिला रचनाकारों की आत्मकथाएँ आई हैं- उनमें से सच पूछें तो आत्मकथा के मूलभूत सरोकार और ईमानदारी ही गायब है। अपने जीवन और लेखन को महिमामंडित करना या अपने किए को अपने नजरिये से जायज ठहराना आत्मकथा लिखना नहीं होता। मन्नू भंडारी में ईमानदारी कूट-कूट कर भरी है पर उनकी आत्मकथा तो आत्मकथा है ही नहीं। वह सचमुच उनके लेखकीय संस्मरण हैं जिसे प्रकाशक आत्मकथा नाम से बेच रहे हैं क्योंकि आत्मकथा एक सेलेबल विधा है। जिन्होंने उसे आत्मकथा के रूप में पढ़ा, वे निराश ही हुए। मन्नू जी

मेरी बहुत प्रिय और सम्माननीय मित्र हैं पर सबसे ज्यादा मैं निराश हुई। मैंने छपने से पहले राजकमल से आया उसका फाइनल प्रूफ पढ़ा था। मेरी मन्नू जी से बहुत बहस हुई। 'कथादेश' के मन्नू जी पर एकाग्र अंक में मन्नू जी के लिखे पत्रों में आपने पढ़ा होगा कि उनके संस्कार उन्हें खुलकर लिखने की इजाजत नहीं देते।

मन्नू जी कहती जरूर दृष्ट कि पुरुषों की सामंती और दंभी मनोवृत्ति को उघाड़ना चाहिए। 'जब स्त्रियाँ अपने निजी को सार्वजनिक करने लगेंगी, बिना किसी खौफ और डर के सबकुछ उजागर करने लगेंगी तो इन पुरुषों के व्यवहार पर जाने-अनजाने अंकुश तो लगेगा।'

यह मन्नू जी का कथन है पर दूसरों के लिए। दूसरी महिलाएँ खुलकर लिखें और ऐसे पुरुषों के व्यवहार पर अंकुश लगाएँ। पर मन्नू जी यह नहीं करेंगी। दरअसल वे अपने निजी प्रसंगों को एक तटस्थ नजरिये से देख नहीं पाईं, न अपनी निजी पीड़ा के विश्लेषण में सामाजिक सरोकार ढूँढ पाईं इसलिए अपने जीवन के त्रासद प्रसंगों का उन्होंने खुलकर ब्यौरा नहीं दिया। मन्नू जी यह नहीं समझ पातीं कि ईमानदारी से किया गया लेखन अशालीन कभी हो ही नहीं सकता। उन्होंने अपनी शालीनता, गरिमा, संभ्रांतता को गहनों की तरह पहन रखा है। उसे वे खोना नहीं चाहतीं और आत्मकथा आप तभी लिख सकते हैं जब आप यह मानकर चलें कि आपके पास खोने के लिए कुछ नहीं बचा। जैसे बेबी हालदार, बेबी कांबले, चंद्रकिरण सौनरेक्सा ने लिखी है। जैसे मल्लिका अमरशेख, सुनीता देशपांडे, उर्मिला पवार ने लिखी है।

इसी पत्रिका के पिछले अंक में राजी सेठ ने आत्मकथा लेखन के संदर्भ में कहा कि मैं अपनी निजता का आदर करती हूँ और कहा कि साहित्य को कूड़ा फेंकने का मैदान नहीं समझती। आपकी राय?

मेरा मानना ठीक इसके विपरीत है। निजता का आदर कौन नहीं करता। हम सब करते हैं। एक औरत सर के ऊपर से पानी गुजरने तक इंतजार करती है। सहनशीलता और रेजिलिएंस का अद्भुत गुण प्रकृति ने उसे दिया है। बच्चे मानसिक रूप से स्वस्थ बने रहते हैं, उनका स्वाभाविक विकास होता है, घर टूटने से बच जाते हैं, एक परिवार और एक घर की, औरत के सर पर एक छत की, सुरक्षा की अपनी अहमियत है। अपना मुँह न खोलने और आत्मकथा न लिखने या न लिख पाने के तो एक हजार कारण हैं। वह तब तक मुँह नहीं खोलती जब तक उसकी जान पर नहीं बन आती। पर जिनके हाथ में प्रकृति ने कलम दी है, वे भी अगर मन्नू जी की तरह

संकेतों में आधा अधूरा लिखें तो उन त्रासदियों का, यातनाओं का सामाजिक विश्लेषण कैसे होगा जिसे औरत की गर्दन पर जकड़ देना एक तथाकथित बौद्धिक, प्रगतिशील पुरुष भी अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता आया है।

आत्मकथा लेखन को 'कूड़ा' कहने की प्रतिक्रिया के बारे में मैं विस्तार से कथादेश : सितम्बर 2007 में 'एक औरत के पास खोने के लिए सिर्फ अपनी जंजीरें हैं' मैं लिख चुकी हूँ, जब यह आरोप लगाया गया—

“यह आत्मसंघर्ष कथा है या अपने घर का कूड़ा? इस कूड़े को बाहर क्यों फेंका जा रहा है?” सच है, बाहर बिल्कुल नहीं फेंकना चाहिए। अपने घर का 'कूड़ा' अपने में ही ढाँप-ढूँपकर रखो, सजा कर रखो, चाहे जो करो पर, आज तक जब औरतें उसे छिपाती ही आई हैं तो आगे भी वही करना चाहिए। अपने घर का कूड़ा अपने आंचल में छिपाकर रखने से वह अपने आसपास ही दुर्गन्ध पैदा करेगा, कम से कम बाहर का साफ-सुथरा दिखता वातावरण तो उससे प्रदूषित नहीं होगा। हमें क्या लगता है कि इसे अगर बाहरी वातावरण में फैला दिया गया तो उसमें से कुछ बायोडिग्रेडेबल वस्तुएँ पर्यावरण में जज्ब हो जाएंगी? सवाल यह है कि ऐसी संस्था कैसे चल सकती है, जहाँ एक पक्ष कूड़ा क्रिएट करता रहे और दूसरा पक्ष उसे छिपाता हुआ ताउम्र खुश रहने का नाटक करे।” (कथादेश : सितंबर 2007)

एक औरत का अपनी आत्मकथा लिखना स्त्री सशक्तीकरण की ओर बढ़ता पहला चरण है। ईमानदारी इसकी पहली शर्त है। अपने जीवन को और अपनी कलम को महिमामंडित करने या अपने गुनाहों पर परदा डालने के लिए लेखकीय बुनावट के साथ शब्दों से खेलना, भाषा की कशीदाकारी करना और कला के कीमखाबी लिहाफ में अपनी करतूतों को सजा धजाकर प्रस्तुत करना आत्मकथा की विधा के मकसद को ही डिफ्यूज करना है।

क्या अपेक्षा रखती हैं आप लेखक/कलाकार समाज से?

साहित्यकार से आमतौर पर यही अपेक्षा होती है कि जीवन को उदात्त बनाए, पाठक को संस्कारित करे। ईमानदार होना इसकी पहली शर्त है। लेखक भी पुरुष समाज का एक हिस्सा है। उनमें भी वही बदलाव हम देखना चाहते हैं जो एक सामान्य पुरुष में। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है—

"My experience is that changing men is difficult but not impossible.
An alternative to violence means learning to act non-violently.

It means co-operation instead of competition.
 It means respecting instead of degrading.
 It means equality instead of dominance.
 It means dialogue instead of monologue.
 It means communicating instead of control.
 It means love instead of fear, hate and contempt.
 Men must take responsibility for their violence and dominance."

-----Isdal, *Leading Psychologist,*
Alternative to violence, Oslo, Norway

“मेरा अनुभव कहता है कि व्यक्ति को बदलना मुश्किल है पर असंभव नहीं।
 — हिंसा का विकल्प है अहिंसक तरीके अपनाना।
 — इसका अर्थ है प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग।
 — नीचा दिखाने के बजाय आदर करना
 — शासन करने की जगह बराबरी का दर्जा देना
 — एकालाप की जगह संवाद
 — नियंत्रण की जगह संप्रेषण
 — डर, घृणा और अवमानना की जगह प्रेम
 — व्यक्ति को हिंसा और शासन पर नियंत्रण करना चाहिए और उसकी जिम्मेदारी लेनी चाहिए।”

और स्त्री कथाकारों से ?

कि थोड़ा सा बहनापा बरतें आपस में ईर्ष्या- द्वेष, उठा-पटक, एक दूसरे को पटखनी देने की जगह। महत्वाकांक्षा और अपने को स्थापित करने की जोड़ तोड़ सिर्फ पुरस्कारों की लंबी सूची में आपका नाम दर्ज करा सकती है जो बेहद तात्कालिक है। साहित्य के इतिहास में स्थायी रूप से तो आपका नाम तभी दर्ज होगा, जब आपका ज़मीर साफ हो। गलत को देखते- पहचानते हुए भी अपने छोटे छोटे फायदों के तहत उस गलत पर परदा डालते रहना, उसके विरोध में न खड़े होना, कोई दूसरा खड़ा हो तो भी उसका साथ न देकर मूक दर्शक बनकर एक सुविधाजनक दूरी बनाकर दूर खड़े होकर तालियां बजाना और अपनी ही महिला बिरादरी का अपमान करना मेरे गले नहीं उतरता। सही के पक्ष में खड़े होना, बोलना जरूरी है पर उतना ही ज़रूरी है गलत को गलत कहने का मादा रखना।

और.... एक अंतिम सवाल... आपकी भावी योजनाएँ क्या हैं? कौन कौन सी पुस्तकें आ रही हैं?

योजना बनाकर मैंने कभी काम नहीं किया इसलिए कुछ भी कर नहीं पाई। काउंसिलिंग से जुड़ी केस हिस्ट्रीज को जरूर कभी लिखना चाहूँगी क्योंकि अब सैद्धांतिक और कार्यशालाओं की ट्रेनिंग के साथ-साथ व्यावहारिक स्तर पर भी उसे करीब से देखा, जाना और अनुभव किया है। जिसे फर्स्ट हैंड एक्सपीरिेंस कहते हैं और जो सिर्फ आपका अपना अनुभव आपको सिखा सकता है। पुस्तकों की कई योजनाएँ हैं लेकिन मैं बहुत आलसी जीव हूँ। ‘कथादेश’ संपादक हरिनारायण इसके गवाह हैं। मुझसे कुछ सक्रिय काम करवाने के लिए जैसा धीरज और लगन चाहिए, वह किसी भी संपादक- प्रकाशक में क्यों हो? मैं साहित्य में ऐसी कौन सी तुरम खाँ हूँ। समय आने पर कुछ हो सका तो ठीक, न हुआ तो मेरा ही नुकसान है, किसी और का नहीं।

मेरे लेखन की शुरुआत डायरी लेखन से हुई पर मैं नहीं चाहती कि उसका अंत भी डायरी लेखन से हो।

(शब्दयोग : मार्च 2009 से उद्धृत अंश)

